जाति संरचना और दलित

***दिसंबर में हुए दलित-अल्पसंख्यक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में जो दो मुख्य पेपर पढ़े गए थे उनमें मुस्लिम की स्थिति से संबंधित एक पेपर को 'न्याय चक्र' के पिछले अंक में हमने जस का तस दिया था। इस अंक में हम भारतीय राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था में दलितों की स्थिति और उनकी समस्याओं के बारे में तैयार किए दूसरे थीम पेपर को दे रहे हैं। इसे केन्द्र सरकार में सचिव रह चुके* पी.एस. कृष्णन *ने तैयार किया है।* -सं.**

भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति से संबंधित एक आधारभूत केन्द्रीय तथा महत्वपूर्ण सच्चाई हर तरफ व्याप्त जाति व्यवस्था है, जिसकी सबसे बड़ी शिकार अनुसूचित जातियां हैं। इस जाति व्यवस्था की वजह से अनुसूचित जातियों को भी परेशान होना पड़ा है, लेकिन अधिकतर मामलों में उनकी स्थिति अलग तरह की रही है। सामाजिक एवं शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों (एसएड़बीसी), जिन्हें अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) या पिछड़ा वर्ग (बीसी) कहा जाता है। उन्हें भी पीड़ित होना पड़ा है, लेकिन उसकी भी यात्रा अलग रही है। इन तीनों श्रेणियों के लोग जनसंख्या के हिसाब से भारी बहुमत में हैं (लगभग 75 प्रतिशत) और देश की श्रम शक्ति लगभग पूरी तरह से इन्हीं पर आधारित है। इसलिए भारतीय जाति व्यवस्था के स्वभाव और प्रक्रिया तथा आजादी के बाद के आधुनिक भारत में इसके महत्व तथा स्थल को स्पष्ट रूप से समझना जरूरी है। इसके बाद ही दलितों की स्थिति को समझा जा सकता है।

भारतीय जाति व्यवस्था के स्वभाव एवं इसके प्रभावों को समझने के लिए भारत की अधिसंख्य जनता के नजरिये से इसका अध्ययन जरूरी है, जो कि अलग-अलग रूपों तथा मात्रा में इसके शिकार होते रहे हैं। इसके बाद ही यह समझा जा सकता है कि भारतीय जाति व्यवस्था अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा पिछड़ी जातियों के संदर्भ में कैसे काम करती है। इसे इस नजरिये से देखते हुए भारतीय जाति व्यवस्था या परंपरागत सामाजिक-आर्थिक संरचना और भारतीय व्यवस्था का श्रेणीकरण, अवमूल्यन, शोषण के रूप में देखा जा सकता है, जिसमें रोजगार के लिहाज से ऊपर से नीचे तक स्थान तय किय गये हैं। इसकी रूपरेखा उनलोगों के हितों को देखते हुए तय की गयी है, जो प्रभुत्व और सम्मान के पदों पर रहे हैं, ताकि सारे फायदों पर उनका आधिपत्य रहे तथा वे अपने निम्न स्थान दिये गये लोगों से सेवा एवं अपने लिए मेहनत करवा सकें। विभिन्न जातियों, जिनकी संख्या हजारों में है की विवेचना इस नजरिये से करने पर उन्हें चार स्तरों में बंटा हुआ देखा जा सकता है।

इस श्रेणीक्रम में, सबसे निचला स्थान दिया गया है, जो कृषक मजदूर जातियां थीं। वर्ष 1935 से तथा भारत के आजाद होने के बाद संविधान के अनुच्छेद 341 के संदर्भ में राष्ट्रपति के आदेश से इन्हीं जातियों को अनुसूचित जातियों का दर्जा दिया गया, उन्हें छुआछूत की कसौटी के आधार पर इस तरह से वर्गीकृत किया गया। वे जातियां, जो छूआछूत की शिकार रही हैं उन्हें अनुसूचित जातियों के नाम से वर्गीकृत किया गया। ये वही जातियां हैं, जिन्हें पूर्व में पंचमास, कहा जाता था। अनुसूचित जातियों के पढ़े-लिखे तबके ने अधिकारपूर्वक तथा जबरदस्ती अपने को दलित कहना शुरू कर दिया, जिसका मतलब है दबा हुआ। इस श्रेणी में सबसे अधिक संख्या कृषक मजदूर जातियां हैं, जबकि नीचे के क्रम में खानाबदोश (एन), अर्द्ध-खानावदोश (एसएन) या विमुक्त जाति (वीजे) या पूर्व- अपराधी है। उनमें से कुछ को छुआछूत का शिकार होने की वजह से अनुसूचित जातियों के रूप में वर्गीकृत किया गया है।

सबसे नीचे से ऊपर परंपरागत कारीगरों की जातियां तथा अन्य शिल्प निर्माता, विभिन्न सेवाएं देने वाली जातियां तथा चरवाहा जातियां है और वे सबसे निचले स्तर से ऊपर वाले स्तर वाली जातियां हैं। उन्हें सामाजिक तथा शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्ग (एसएड़वीसी) की सूची में स्थान दिया गया है, जिन्हें अन्य पिछड़ा वर्ग भी कहा जाता है। खेतिहर किसानों को मध्य स्तर से ठीक ऊपर स्थान दिया गया है और आमतौर पर उन्हें भी *एसएडवीसी* या *ओबीसी* की सूची में पाया जाता है। ये दोनों वही जातियां हैं जिन्हें अतीत की वर्ण व्यवस्था में शूद्र कहा जाता था, लेकिन कुछ शूद्र वर्ण की जातियां अब ऊपर उठ चुकी हैं और पिछड़ी नहीं रह गयी हैं।

सबसे ऊपर वे जातियां हैं, जो परंपरागत रूप से लाभ की स्थिति में रहती आयी है। यानी पूर्व की वर्ण व्यवस्था वाली ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातियां, वे जाति व्यवस्था से लाभान्वित होती रही हैं। निचले

स्तर में आने वाली जातियां इन ऊंची जातियों के फायदे के लिए अपनी सेवाएं श्रम देती रही हैं। इन उंची और निचली जातियों के बीच का रिश्ता गैरबराबरी के आधार पर रहा है और इसके तहत अलग-अलग तरह से शोषण किया जाता था। हालांकि जनजातीय क्षेत्रों में रह रहे आदिवासी जाति व्यवस्था के हिस्से नहीं हैं, लेकिन उनकी स्थिति जाति व्यवस्था के सबसे निचले स्तर पर मौजूद अनुसूचित जातियों जैसी ही हैं।

निश्चित रूप से भारत पर दो शताब्दी के ब्रिटिश राज तथा 1947 में देश की आजादी के बाद गुजरे कुछ दशकों में बदलाव आये हैं, लेकिन गैर-जनजातीय भारत के सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य की चार स्तरीय वर्ण व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन नहीं आ पाया और आधुनिक भारत में भी वह व्यवस्था जारी रही।

आज भी जारी जाति-आजीविका-सामाजिक हैसियत गठजोड़ को 16 नवंबर, 1992 में मंडल मामले पर सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपने बहुमत वाले निर्णय में की गयी व्याख्या के माध्यम से समझा जा सकता है- जाति कुछ नहीं, बल्कि सामाजिक वर्ग है, एक सामाजिक समरूप वर्ग। यह एक पेशेगत समूह भी है। फर्क सिर्फ यह है कि इसकी सदस्यता आनुवांशिक है। सभी इसमें जन्म लेते हैं... अगर कोई उस आजीविका से ही जुड़ा रहे तब भी वह उस समूह का हिस्सा बना रहेगा, यह एक सामाजिक एवं समरूप वर्ग है। गोत्र इसकी मुख्य पहचान है। इसकी सामाजिक हैसियत और इसका स्थान उस आजीविका के स्वभाव पर निर्भर करता है। आजीविका जितनी निम्न रहेगी, सामाजिक व्यवस्था में उस वर्ग की हैसियत उतनी ही नीची रहेगी, ग्रामीण भारत में आजीविका-जाति गठजोड़ आज भी सही है। शहरीकरण ने कुछ हद तक इसे तोड़ा है, लेकिन पूरी तरह से नहीं। अधिसंख्य मामलों में जाति-आजीविका गठजोड़ मौजूद है। यहां वहां अपवाद हो सकते हैं, लेकिन हमें सामान्य स्थिति से मतलब है। अपवादों से नहीं। निम्न स्तर की आजीविका की परिणति व सिर्फ निम्न सामाजिक स्थिति है, बल्कि गरीबी भी है। यह गरीबी पैदा करता है। जाति-आजीविका संपत्ति चक्र इस तरह एक हर जगह नजर आने वाली सच्चाई है। ग्रामीण भारत में यह साफ-साफ नजर आता है, जबकि शहरी केन्द्रों में इसमें थोड़ी बहुत कमी आ जाती है। लेकिन चूंकि ग्रामीण भारत और ग्रामीण आबादी भारत में जीवन की सबसे बड़ी सच्चाई है। इसलिए वास्तविक वही रहती है। जबसे जाति-आजीविका-गरीबी गठजोड़ की बात की गई है। उसके बाद ही तमाम विरोध और इससे नफरत करने के बावजूद इसे खत्म करने के तमाम प्रयास नाकाम हो गये हैं।

प्राचीन काल में शहरी दस्तकारों के बौद्ध और जैन धर्म से लगाव के प्रमाण मिले हैं। मध्यकाल में बड़ी संख्या में दस्तकारों तथा अछूतों ने उत्तर भारत में इस्लाम धर्म स्वीकार किया था।

भारतीय जाति व्यवस्था का उद्देश्य निम्न जातियों एससी, एसटी और बीसी से शिक्षा एवं विकास के अवसर छीनना भी है। प्राचीन काल में एकलव्य की कथा इसका उदाहरण है। इसी तरह 1853 बम्बई महाप्रांत के धारवार जो अब कर्नाटक में है, में जब एक सरकारी विद्यालय में अछूत जाति (मेहर जाति) एक लड़के का नामांकन किया गया तब ऊंची जाति के लोगों ने विद्यालय के बहिष्कार का निर्णय ले लिया।

संक्षेप में

● सदियों में भारतीय जाति व्यवस्था काम और प्रभाव इस तरह से रहा है–

● मजदूरों और कृषक मजदूर जातियों का (एएलसी) एग्रीकल्चरल लेबर कास्टर्स बनाना।

● अनुसूचित जातियों को दबाकर रखना, ताकि उनके पास अपनी स्थिति बेहतर करने का कोई रास्ता ही न रह जाये।

अनुसूचित जनजातियों को दूरदराज इलाकों में रखना और सिर्फ तभी खुले में लाना जब श्रम शक्ति की जरूरत हो। उन्हें अलग-थलग, हताश और वंचित रखना/उनकी आर्थिक, शैक्षणिक और सामाजिक प्रगति अवसरों को न्यूनतम कर देना।

● अनुसूचित जातियां, जो कि कृषि मजदूरी तथा दूसरी तरह की मजदूरियां करने में सबसे आगे रही हैं वे भारतीय जाति व्यवस्था की वजह से शोषण एवं दमन के केन्द्र में रहे हैं।

● पिछड़े वर्गों की आर्थिक, शैक्षणिक तथा सामाजिक प्रगति बाधित करना और आगे बढ़ने की उनके कोशिशों को नाकाम करना

इसके लिए बल तंत्र रहा है अपने पूर्ण रूप में जाति व्यवस्था

विशेष रूप से अनुसूचित जातियों के खिलाफ, छूआछूत के माध्यम से जो सदियों से आज तक जारी है। कई सदियों से भारतीय जाति व्यवस्था ने छुआछूत के सहारे अछूत जातियों तथा जनजातियों का सिर्फ अपने खेतों में मजदूरी करने तथा उनसे दूसरी सेवाएं लेने के लिए इस्तेमाल करती रही हैं।

आधुनिक काल में जब अनुसूचित जातियों के भारतीय जाति व्यवस्था के सिद्धांत को मानने और दावेदार करने से इंकार कर दिया, तब उनके खिलाफ अत्याचार किये जाने लगे।

पिछले लगभग डेढ़ सौ वर्षों के सुधारवादी, राष्ट्रवादी और क्रांतिकारी आंदोलन तथा अंबेडकरवादी आंदोलन ने दलितों के अंदर एक नयी तरह की जागरूकता की भावना पैदा की है। इस प्रभाव में उन्होंने जाति व्यवस्था द्वारा दी गयी निम्न हैसियत को स्वीकार करने से इंकार कर दिया। इसमें नीचे दिये गये आंदोलनों ने दूसरे आयाम पैदा किये

● भूमि सुधार आंदोलन

● कृषि मजदूरी बढ़ाने के लिए आंदोलन

● तेलंगाना और तेभागा कृषक आंदोलन

● तंजाबूर जैसे स्थानों पर कृषि मजदूरों द्वारा की गयी हड़ताल

इससे देश के विभिन्न हिस्सों में रह रही ऊंची जातियों तथा उच्च मध्य जातियों को निम्न जातियों को नियंत्रित करने के लिए नये उपायों की जरूरत महसूस हुई। इसी वजह से 1960 के बाद दलितों के खिलाफ बड़े पैमाने पर अत्याचार शुरू हुए। जैसे-जैसे दलितों का विरोध बढ़ा है, वैसे-वैसे ही उनके खिलाफ होने वाले अत्याचारों में भी इजाफा होता चला गया है।

जाति-व्यवस्था की शिकार तीन श्रेणियों में से अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों की स्थिति पर ही यह थीम पेपर अपने को

केंद्रित करेगा। भारतीय जाति व्यवस्था दलितों के लिए एक कारागर है। जैसा कि डॉ. अंबेडकर का दर्शन था जातिवाद का विनाश दलितों की आजादी के लिए अपरिहार्य है।

समतावादी जातिविरोधी आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास

ऐसा माना जाता है कि पश्चिमी शिक्षा एवं पश्चिम के आधुनिक विचारों के आगमन से पहले भारत में जाति के मोर्चे पर सबकुछ शांत रहा है। यह गलत है। भारत के सामाजिक इतिहास में कई बार ऐसे अवसर आये, जब निम्न जातियों के लिए या फिर उनके द्वारा समतावादी आंदोलन किये गये। यह सच है कि भारत में यूरोपीय लोगों के आगमन के बाद ऐसे आंदोलनों के लिए व्यापक जमीन तैयार हुई। मानवता, समतावाद, राष्ट्रीयता, लोकतंत्र और कानून की निगाह में सबकी बराबरी की सोच के विकास ने परंपरागत भारतीय राज्य व्यवस्था को हिलाकर रख दिया। दलितों के संदर्भ में इन आंदोलन का महत्व यह था कि उनका सशक्तिकरण, लोगों के सामुदायिक प्रयासों का एकीकरण तथा शासन का हस्तक्षेप निश्चित रूप से समतावादी आंदोलनों के परिणाम थे।

भारत के सामाजिक इतिहास में कई बार ऐसे अवसर आये, जब निम्न जातियों के लिए या फिर उनके द्वारा समतावादी आंदोलन किये गये। यह सच है कि भारत में यूरोपीय लोगों के आगमन के बाद ऐसे आंदोलनों के लिए व्यापक जमीन तैयार हुई।

ब्रिटिश शासन की स्थापना ने ब्राह्मणों तथा दूसरी गैर-ब्राह्मण ऊंची जातियों को भारतीय जाति व्यवस्था को कायम रखने से मिलने वाले सीधे फायदे से महरूम कर दिया। ऊंची जातियों के अलावा भी दूसरी जातियों तक तमाम विरोधों के बावजूद शिक्षा के पहुंचने के परिणामस्वरूप निम्न जातियों की बीच भी धीरे-धीरे शिक्षित विशिष्ट वर्ग पैदा हुआ। वे ब्रिटिश शासन के अधीन सभी सेवाओं पर एक या दूसरी ऊंची जाति के लोगों के एकाधिपत्य को लेकर संवेदनशील थे। वे विशेष रूप से अधिक संख्या वाला भूमिपति किसान समुदाय उस जातिवादी दावे के प्रति बेहद संवेदनशील थे, जिसमें ब्राह्मणों तथा अन्य प्रभावशाली ऊंची जातियों की श्रेष्ठता की बात थी।

दो बिन्दुओं के आस-पास आंदोलन विकसित हुए। एक- औपनिवेशिक राज्य तथा रजवाड़ों वाले देशी राज्यों की सेवाओं में कुछ बड़ी जातियों के एकाधिकार का विरोध तथा परंपरागत जाति आधारित प्रताड़ना के खिलाफत। चूंकि एकाधिकार और शोषण, घमंड और अपमान सभी जाति आधारित थे, इसलिए आंदोलन और लामबंदी का आधार भी जाति से हुई।

पिछड़े वर्गों तथा अनुसूचित जातियों के 19वीं और 20वीं शताब्दी में हुए आंदोलनों के प्रमुख नेता थे महात्मा फुले (1827-1890) श्री नारायण गुरु (1856-1928) अय्यंकली (1863-1941) पेरियार ईवी रामास्वामी नायकर (1879-1973)। इन्हें भारत के विभिन्न क्षेत्रों में कोल्हापुर के छत्रपति शाहूजी महाराज (1874-1922) बड़ौदा के महाराजा सायाजी राव गायकवाड़ (1863-1939) का महत्वपूर्ण समर्थन एवं योगदान हासिल हुआ। इस काल में विभिन्न जातियों/समुदायों एवं जनजातियों द्वारा देश के विभिन्न भागों में चलाये गये अनगिनत आंदोलनों को विस्तृत व्याख्या की जरूरत है।

बाबासाहेब डॉ. बी.आर. अंबेडकर (1891-1956) का आंदोलन प्रभाव में राष्ट्रीय तथा स्वभाव में व्यापक था, क्योंकि यह सामाजिक, शैक्षणिक, राजनीतिक, संवैधानिक, आर्थिक सहित सार्वजनिक जीवन के सभी पहलुओं को समेटे हुए था। इसने शासन के भीतर और बाहर ऐसी स्थायी संस्थाओं एवं संरचनाओं की नींव डाली, जो उनकी मृत्यु के पश्चात भी बिना किसी तरह की बाधा के उनके द्वारा शुरू किये गये बदलावों का सिलसिला जारी रखा। इसने भारत में अभी तक हुए तमाम सामाजिक आंदोलनों के चरम का प्रतिनिधित्व किया। हालांकि अंबेडकर का आंदोलन दलितों पर केंद्रित था, लेकिन पिछड़े वर्गों तथा अन्य शोषित श्रेणी के लोगों के लिए भी वह पर्याप्त महत्व रखता है।

एक और तरह का आंदोलन जिसमें दलितों तथा पिछड़े वर्गों ने भारतीय जाति व्यवस्था के खिलाफ अपना मत व्यक्त किया, वह था जहां भी स्थितियां सहायक हों हिन्दू धर्म से बड़ी संख्या में किनारा करना। प्राचीन काल में शहरी दस्तकारों के बौद्ध और जैन धर्म से लगाव के प्रमाण मिले हैं। मध्यकाल में बड़ी संख्या में दस्तकारों तथा अछूतों ने उत्तर भारत में इस्लाम धर्म स्वीकार किया था। इस्लाम का आंदोलन बंगाल में भी व्यापक था, जहां न सिर्फ दस्तकार जातियां और अछूत ही नहीं, बल्कि जनजातियों तथा खेतिहरों ने भी इसे अपनाया। पंजाब में कारीगरों एवं अछूतों की आबादी का एक बड़ा हिस्सा सिख हो गया। दक्षिण भारत में मध्यकाल तथा आधुनिक काल में अछूतों एवं दूसरी निम्न जातियों के लोग बड़ी संख्या में मुसलमान बन गये। आधुनिक दौर में केरल, तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश जैसे दक्षिण भारतीय राज्यों में बड़ी संख्या में लोग ईसाई बन गये। झारखंड और उसके आस-पास के क्षेत्रों तथा पूर्वोत्तर में अनुसूचित जनजातियों ने इसाई धर्म अपनाया। आजादी के बाद डॉ. अंबेडकर के नेतृत्व में 1956 में बौद्ध धर्म से जुड़ने की हवा चली और इसके बाद अनुसूचित जातियों तक यह मामला सिमटा रहा। सिख एवं बौद्ध धर्म स्वीकार करने वाली अछूत जातियां अब अनुसूचित जातियों की अनुसूची में शामिल हैं, जबकि इस्लाम और इसाई धर्म में जाने वाले शैक्षिक रूप से पिछड़ी जातियों या अन्य पिछड़ी जातियों की सूची में हैं। इस्लाम धर्म स्वीकार कर चुके अछूत निम्न जातियां विशाल मुस्लिम आबादी का हिस्सा है। और अब एसएडबीसी/ओबीसी की वर्तमान सूची में शामिल हैं। धर्म परिवर्तन कर ईसाई बनने वाले की भी यही स्थिति है और वे पिछड़े वर्ग की सूची में शामिल हैं। इसाई और मुसलमान बनने वाले आदिवासी अनुसूचित जातियों की अनुसूची में शामिल हैं।

हालांकि इन धर्म परिवर्तन करने वालों की संख्या अच्छी खासी है और उनके सामाजिक प्रभाव को अवश्य ही साफतौर पर समझा जा सकता है, लेकिन अधिसंख्य अनुसूचित एवं पिछड़ी जातियां हिन्दू धर्म से ही जुड़ी हुई हैं। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि दलितों तथा पिछड़ी जातियों के अंदर बहुत सारे धर्मों को मानने वाले हैं- हिन्दुत्व, इस्लाम, ईसाईयत और सिख धर्म, हिन्दू दलित एवं पिछड़े बहुसंख्यक हैं, जबकि शेष तीन भी संख्या की दृष्टि से अच्छे खासे हैं।

कानून की नजर में समानता का पदार्पण एवं नौकरियों में आरक्षण और शिक्षा

कानून की नजर में समानता की नई अवधारणा : अंग्रेज अपने साथ नयी परंपराएं लेकर आये थे, अंग्रेज शासकों में पराधीन लोगों के विभिन्न वर्गों को लेकर किसी तरह के पूर्वाग्रह और संशय नहीं थे। उनके अपने देश में कानून की निगाह में समानता के विचार ने अपनी जड़ें जमा ली थी। वे अपने साथ इस विचार को भारत ले आये, हालांकि व्यवहार में ब्रिटिश सत्ताधारी वर्ग और पराधीन लोगों के बीच फर्क था। लेकिन अपने अधीन रह रहे लोगों के बीच उन्होंने कानून की निगाह में समानता के विचार को लागू किया। विदेशी मिशनरियों के अपने स्वतंत्र लक्ष्य थे तथा अपनी गतिविधियां थीं। उनकी तथा कुछ ब्रिटिश नागरिक अधिकारियों की तरफ से दलितों को लेकर पहली बार सहानुभूतिपूर्ण उदगार व्यक्त किये गये। पहली बार उन्होंने ही उनके साथ मानवीय आधार पर संबंध स्थापित किये। ऐसे में जबकि जाति-व्यवस्था ने सदियों से उनके लिए शिक्षा के दरवाजे बंद कर रखे थे मिशनरियों ने उनकी बस्तियों में उनके लिए स्कूल खोले। लेकिन उनके ये प्रयास सरकार द्वारा शिक्षा के प्रसार के लिए उठाये गये कदमों के विकल्प नहीं हो सकते थे।

ब्रिटिश हुकूमत, पश्चिमी मिशनरियों, दलित शिक्षा और ऊंची जातियों का विरोध

अंग्रेजों ने भी पिछड़ों के बीच शिक्षा के प्रसार के लिए बहुत कुछ नहीं किया। विभिन्न कारणों से उन्होंने भारतीयों के एक सीमित तबके की शिक्षा के लिए सीमित ढंग से ध्यान दिया और उन्होंने विभिन्न वर्गों को शिक्षित करने के नफे नुकसान की विवेचना की। 19वीं सदी के मध्य में विख्यात ब्रिटिश प्रशासक मॉन्सटुआर्ट एलफिंस्टन ने स्वीकार किया था कि मिशनरियों ने निम्न जाति के लोगों को सर्वश्रेष्ठ शिष्य पाया, लेकिन उनका उदारवाद ऊंची जाति की प्रतिक्रिया के आगे कमजोर पड़ गया, जो कि हर उस अवसर पर सामने आता था, जब तिरस्कृत जातियों में से कोई अपने नये-नये हासिल शैक्षणिक योग्यता के आधार पर सरकारी नौकरियों के लिए चुना जाता था। बंबई प्रांत के शिक्षा बोर्ड ने 1850-51 में दी गयी अपनी रिपोर्ट में यह विश्वास व्यक्त किया था कि अगर शिक्षा के दरवाजे ढेरों, महारों आदि तिरस्कृत जातियों के लिए खोल दिये जायें, तो वे निश्चित रूप से अपने को किसी और जाति के मुकाबले बेहतर बुद्धिमता युक्त साबित करने में सफल हो जायेंगे, और ऐसी क्षमताओं के साथ उन्हें जज, ग्रैन्ड ज्यूरी, महारानी के शांति आयोग जैसे सर्वोच्च पदों तक पहुंचने से कोई नहीं रोक सकता जो कि जन्मजात प्रतिभाओं के लिए खुले हुए हैं। लेकिन उन्होंने अपने को एलफिंस्टन के व्यवहारिकता एवं सावधानी से निर्देशित होने दिया। उन्होंने सबसे अधिक उदारवादी और व्यापक सोच वाले प्रशासक के उस चिंतन को स्वीकार किया, जिसमें उन्होंने सलाह दी थी– "हालांकि सबसे निचली जातियों वाले सबसे अच्छे शिष्य हैं, लेकिन हमें इस बात को लेकर सतर्क रहना चाहिए कि हम कैसे उस पहचान के लोगों को विशेष प्रोत्साहन देने की बात करते हैं, वे न सिर्फ सबसे अधिक तिरस्कृत लोग हैं, बल्कि सामाजिक विभाजन के अल्पमत बहुसंख्यकों में से हैं और ऐसी आशंका है कि हम अपने को शायद एक नये वर्ग के सामने पायें, जो उपयोगी ज्ञान में दूसरों से बेहतर हों, लेकिन वे जातियां उन्हें नफरत और तिरस्कार भरी नजरों से देखती हों, जिन्हें तरजीह देने के लिए ये नये योग्य लोग ही हमें प्रेरित करें।" यह आज के आरक्षण विरोधियों के पूर्वजों के जवाबी हमले का डर था। दलित जिन रास्तों से चलकर आज के आरक्षण विरोधियों के पूर्वजों के साथ बराबरी कर सकते थे या उन्हें अपनी प्रतिभा के बूते पछाड़ भी सकते थे। फिर उन्होंने मूल्यांकन किया और भारत के ऊंचे वर्गों की दो प्रभावशाली जातियों-जमींदारों और जागीरदारों सहित सैनिक वर्ग और व्यावसायिक वर्ग की मनोवृत्ति को बेहतर शिक्षा के अयोग्य पाया। आखिरकार उन्होंने ब्राह्मणों पर ध्यान केंद्रित किया और उन्हें बंबई के प्रभुओं और सेनानियों, बंगाल के कायस्थों जैसे लेखकों की ऊंची जातियों के साथ जोड़ा। फिर उन्हें ब्राह्मणों तथा ब्राह्मणों की समीपस्थ अन्य ऊंची जातियों का नाम देकर कहा कि यह वह प्रभावशाली वर्ग है जिसका सरकार शिक्षा के बीज बोने के काम से उपयोग करेगी।

जब ब्रिटिश सरकार ने 'अछूत' बच्चों को गिरते-पड़ते बहुत छोटे पैमाने पर प्राथमिक शिक्षा देने की तरफ अपना पहला कदम बढ़ाया, तो फिर हिंसा हुई। शारीरिक बाधा डाली गयी तथा स्कूल जाते इन बच्चों का रास्ता रोका गया, उनकी किताबें फाड़ डाली गयीं और उन्हें वापस खदेड़ दिया गया।

इस तरह कानून की निगाह में सभी बराबर हैं। अंग्रेजों की सोच के अनुसार 1854 में अछूतों के बच्चों के स्कूलों में प्रवेश पर लगा प्रतिबंध औपचारिक रूप से तो हटा लिया गया, लेकिन व्यावहारिक रूप में यह आने वाले लंबे समय तक जारी रहा। अंग्रेज शासकों की ठंडी एवं स्वार्थी नीति के अनुसार तब के बंबई प्रांत और अब के कर्नाटक के धारवार स्थित एक मेहर बच्चे द्वारा ठीक उसी सरकारी स्कूल में नामांकन के लिए दिया गया आवेदन। जब त्रावणकोर की महिलाएं तन ढंकने के अपने मौलिक अधिकार के लिए लड़ रही थी। 21 जुलाई, 1856 के दिन बंबई सरकार के प्रस्ताव द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया था। इस अस्वीकृति की वजह ऊंची जातियां की वह तीव्र प्रतिक्रिया थी, जिसके तहत 1853 में मेहर बच्चे के पहली बार नामांकन के बाद उन्होंने अपने-अपने बच्चों को स्कूल से निकाल लेने की धमकी दी थी। बंगाल में भी उन जातियों की स्थिति बेहतर नहीं थी, जिन्हें अब अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा सामाजिक शैक्षणिक रूप से पिछड़ा वर्ग कहा जाता है।

आखिरकार जब ब्रिटिश सरकार ने 'अछूत' बच्चों को गिरते-पड़ते बहुत छोटे पैमाने पर प्राथमिक शिक्षा देने की तरफ अपना पहला कदम बढ़ाया, तो फिर हिंसा हुई। शारीरिक बाधा डाली गयी तथा स्कूल जाते इन बच्चों का रास्ता रोका गया, उनकी किताबें फाड़ डाली गयीं और उन्हें वापस खदेड़ दिया गया। 1882 के भारतीय शिक्षा (हंटर) आयोग ने मालाबार (तब मद्रास प्रांत में और अब केरल में) मध्य प्रांत (अब मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र और छत्तीसगढ़) बंबई प्रांत (महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक) में हुई इस तरह की घटनाओं का हवाला दिया था। प्रशासन की इसमें मिलीभगत थी, क्योंकि इसमें एक या कुछ ऐसी जातियों के लोगों का वर्चस्व था, जिनका नौकरियों एवं शिक्षा पर

एकाधिकार था। वे नहीं चाहते थे कि निम्न जातियां शिक्षित हों और उनके एकाधिकार को खत्म कर दें। इस तरह कोई एक जाति या कुछ जातियां विभिन्न क्षेत्रों में जिनकी आबादी तीन से 20 फीसदी के लगभग थी, नौकरियां और शिक्षा विशेष रूप से अंग्रेजी स्कूली शिक्षा पर अपना संपूर्ण अथवा अधिसंख्य वर्चस्व कायम रखने में सफल रहीं। उन्होंने जातीय एकता को 'अछूतों' के हक छीनने का हथियार बनाया और जाति को दूसरों को अलग-थलग करने के लिए इस्तेमाल किया।

आरक्षण का अपरिहार्य उभार

इन्हीं परिस्थितियों में उन जातियों/समुदाय के सामने आरक्षण की मांग करने के अलावा दूसरा कोई विकल्प नहीं रह गया, जिनका प्रशासन या सत्ता में कोई हिस्सा नहीं था, और न ही शिक्षा विशेष रूप से अंग्रेजी स्कूली शिक्षा में थोड़ा बहुत या बिल्कुल ही दखल नहीं था। चूंकि जाति वंचित रखने एवं हक छीने जाने का माध्यम था, इसलिए जाति ही अपने आप लामबंदी और आरक्षित प्रवेश का हथियार बन गई। यह अस्वाभाविक मगर समाज में दूर और गहरे तक प्रवेश कर चुकी जाति व्यवस्था का स्वाभाविक परिणाम था। यह ऐतिहासिक स्थिति आज की पीढ़ी की ऊंची जाति के युवाओं के लिए चिंतन का विषय है, जो यह मांग कर रहे हैं कि आरक्षण का आधार जाति नहीं होनी चाहिए। अपनी तात्कालिक प्रतिक्रिया व्यक्त करने की बजाय उन्हें इस सामाजिक-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अध्ययन का प्रयास करना चाहिए।

पिछड़े वर्ग एवं अनुसूचित जातियों के विकास एवं कल्याण के लिए शासन का दखल लोकप्रिय आंदोलनों तथा मानवीय सम्मान एवं सामाजिक आर्थिक अधिकारों को पाने के लिए किये गये सामुदायिक प्रयासों का परिणाम था।

19वीं शताब्दी तथा 20वीं शताब्दी की शुरूआत में पिछड़ी जातियों तथा अनुसूचित जातियों सहित अन्य और गैर-ब्राह्मण जातियों के आंदोलनों का ही परिणाम था कि कई प्रांतीय/राज्य सरकारों तथा राजा-रजवाड़ों वाले राज्यों ने 1947 की आजादी के पहले पिछड़े वर्गों तथा अनुसूचित जातियों के लिए नौकरियों में आरक्षण एवं उनके विकास एवं कल्याण के लिए अन्य कार्यक्रमों की शुरुआत की।

पिछड़े वर्ग एवं अनुसूचित जातियों के विकास एवं कल्याण के लिए शासन का दखल लोकप्रिय आंदोलनों तथा मानवीय सम्मान एवं सामाजिक आर्थिक अधिकारों को पाने के लिए किये गये सामुदायिक प्रयासों का परिणाम था।

सामुदायिक प्रयासों के एवं आंदोलन के माध्यम से आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में अपनी जगह बनाने के लिए लक्ष्य के अंतर्गत अपने बच्चों को सरकारी संस्थानों तथा जो आर्थिक रूप से सक्षम थे उनके द्वारा बच्चों को निजी संस्थानों में प्रवेश कराने की कोशिश की गयी। हालांकि निजी संस्थानों वाला विकल्प अनुसूचित जातियों एवं पिछड़े वर्ग के पास नहीं था, क्योंकि उनके पास इसके लायक आर्थिक क्षमता नहीं थी।

ऐसे आंदोलनों तथा अपेक्षाओं के स्पष्ट समायोजन के प्रतिफल के रूप में पिछड़े वर्गों के लिए सरकारी सेवा के पदों के लिए आरक्षण किया गया। इसकी शुरुआत 1902 में कोल्हापुर के छोटे से रजवाड़े से हुई जिसके अंतर्गत वर्तमान पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों तथा उन गैर-ब्राह्मण जातियों को रखा गया, जो पिछड़े वर्गों की संवैधानिक सूची में नहीं है। फिर अधिक बड़े रजवाड़े मैसूर राज्य ने 1918 में पिछड़े वर्गों के लिए गठित मिलर समिति की 1921 में दी गयी रिपोर्ट के आधार पर (भारत में पिछड़े वर्गों के लिए गठित पहली कमिटी/आयोग) आरक्षण लागू किया गया, जिसके अंतर्गत वर्तमान पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों तथा अधिकतर गैर-ब्राह्मण जातियों को शामिल किया गया, जिनमें से बहुत से *हवानुर* के बाद के पिछड़े वर्गों की सूची में जगह नहीं पा सके हैं। इसके तत्काल बाद 1921 में ही मद्रास प्रांत ने भी पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण लागू किया, जिसके तहत अनुसूचित जातियों तथा अधिकतर गैर-ब्राह्मण जातियों को शामिल किया गया जिनमें से कुछ पिछड़े वर्गों की वर्तमान सूची में शामिल नहीं हैं। फिर विशाल बंबई प्रांत ने वंचित वर्गों तथा *नोमादिक* समुदाय जैसे पिछड़े वर्गों की राज्य कमिटी द्वारा अपनी रिपोर्ट देने के बाद आरक्षण लागू किया। इसके अलावा त्रावनकोर रजवाड़े में भी 1935 में पिछड़े वर्गों को आरक्षण दिया गया। वहां पिछड़े वर्गों की सूची में वर्तमान अनुसूचित जातियों तथा सामाजिक एवं शैक्षणिक रूप से पिछड़ों को शामिल किया गया था। नौकरियों में आरक्षण के आदेशों के अंतर्गत साथ में शिक्षा में आरक्षण का समानांतर आदेश भी था।

येरावदा (पूना) समझौता : राष्ट्रीय स्तर पर देश के अंदर तथा ब्रिटिश सरकार के विभिन्न मंचों पर डॉ. अंबेडकर के अनवरत प्रयासों तथा तर्कों एवं सूचनाओं से सुसज्जित आग्रहों के परिणामस्वरूप 1935 में (भारत सरकार अधिनियम 1935 के तहत) लागू हुए संविधान तथा 1932 के येरावदा या पूना पैक्ट के बाद अनुसूचित जातियों के लिए केन्द्रीय एवं प्रांतीय विधायिकाओं में आरक्षण लागू किया गया। पूना पैक्ट गांधी और बाबासाहेब डॉ. अंबेडकर के बीच येरावदा जेल में हुई बातचीत के बाद हुआ एक गंभीर समझौता था। येरावदा जेल में महात्मा गांधी बंदी बनाकर रखे गये थे और ब्रिटिश सरकार द्वारा अनुसूचित जातियों को मैकडोनाल्ड अवार्ड के तहत अलग निर्वाचन समूह घोषित किये जाने के खिलाफ अनशन पर थे। जेल से बाहर मौजूद अधिकतर कांग्रेसी नेताओं ने बातचीत में हिस्सा लिया और मदद की। इस समझौते पर राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े अधिकतर नेताओं तथा नागरिक समाज एवं उद्योग के कुछ नेताओं ने हस्ताक्षर किये। पंडित नेहरू, जो कि तब नैनी जेल में थे, उन्होंने भी इस समझौते के प्रति अपना समर्थन व्यक्त किया।

गांधी जी की जिन्दगी को बचाने के लिए हिचकिचाते हुए अनुसूचित जातियों को अलग निर्वाचन समूह बनाये जाने के महत्वपूर्ण लाभ (जो उन्हें मिल चुका था) की मांग छोड़ दी, क्योंकि गांधी जी और अन्य नेता उसके खिलाफ थे। बदले में व्यक्तिगत रूप से गांधी जी और संपूर्ण राष्ट्रीय आंदोलन की तरफ से न सिर्फ केन्द्रीय एवं प्रांतीय विधायिकाओं में सीटें अनुसूचित जातियों को आरक्षित किये जाने का वायदा किया गया बल्कि लोक सेवाओं, चुनावों से लेकर स्थानीय निकायों (जिसे 1993 में पूरा किया गया) में उचित प्रतिनिधित्व तथा शैक्षणिक समर्थन दिये जाने का फैसला हुआ।

युवाओं की वर्तमान पीढ़ी तथा मीडिया स्तंभकारों को यह बात

याद रखनी चाहिए कि उनकी गतिविधियां तथा उनके शब्द अनुसूचित जातियों के प्रति अविश्वासयुक्त नहीं होने चाहिए, जिन्होंने व्यापक राष्ट्रीय हित में अपने फायदे की स्थिति को छोड़ दिया था। उन्हें गांधीजी और दूसरे राष्ट्रीय नेताओं तथा नागरिक समाज के नेताओं के प्रति अनादर भी नहीं दिखाना चाहिए, जिन्होंने अनुसूचित जातियों के साथ आरक्षण एवं शिक्षा से संबंधित समझौता किया था। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि विजुअल और प्रिन्ट मीडिया के अनेक विद्वान टीकाकार, शिक्षाविद् और युवा अपनी जाति आधार से प्रभावित होकर सामाजिक एवं शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग के लिए केन्द्रीय उच्च शिक्षण संस्थानों में आरक्षण को लेकर चल रहे विवाद का फायदा उठाते हुए आईआईटी और आईआईएम सहित उच्च शिक्षण संस्थानों में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण अपने हिसाब से जायज है, लेकिन निश्चित रूप से उनके साथ अनुसूचित जातियों-जनजातियों के आरक्षण के दशकों पुराने मामले को घसीटने की कोई जरूरत नहीं है।) यह येरवदा समझौते, राष्ट्रीय आंदोलन के वायदे तथा भारतीय संविधान की भावना के खिलाफ है।

दलितों के लिए पहली राष्ट्रीय स्तर की शिक्षा योजनाएं: इस तरह सावधानीपूर्वक भूमिका तैयार करने तथा राष्ट्रीय एवं सामाजिक सर्वसम्मति तैयार करने के बाद डॉ. अंबेडकर ने अनुसूचित जातियों तथा राष्ट्र के हित में वायसरॉय की कार्यकारिणी परिषद के सदस्य की जिम्मेवारी संभाल ली। इससे वे आजादी से पूर्व 1943-44 में ही अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षण की योजना को कार्यान्वित करवाने (बाद में यानी 1950 में इसमें अनुसूचित जनजातियों को भी शामिल कर लिया गया) तथा साथ-साथ अनुसूचित जातियों के लिए ऐतिहासिक मैट्रिक के बाद छात्रवृत्ति की योजना (पीएमएस) और राष्ट्रीय विदेश छात्रवृत्ति योजना को शुरू करवाने में सफल हो गये।

आरक्षण का सही अर्थ : इस तरह अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण के सवाल को राजनीतिज्ञों की चुनावी महत्वाकांक्षाओं के साथ जोड़ना गलत है, जैसा कि बहुत से शिक्षाविद्, मीडिया विश्लेषक और युवा अपने सामाजिक उद्गम के प्रभाव तले तथा उन सामाजिक ऐतिहासिक पहलुओं की जानकारी के वगैर जिनकी वजह से आरक्षण की जरूरत सामने आयी लापरवाही से साबित करने में लगे हुए हैं। यह पिछड़े वर्गों तथा अनुसूचित जातियों के आंदोलनों, शिक्षा के अधिकार के प्रति उनकी उम्मीदों, सत्ता में भागीदारी, व्यापक समतावादी सामाजिक सुधार और स्वतंत्रता पूर्व की सरकारों तथा कुछ सुधारवादी एवं यथार्थवादी महाराजाओं की सार्थक प्रतिक्रिया का स्वाभाविक परिणाम था। इस पृष्ठभूमि और राष्ट्रीय आंदोलन में समाहित सुधारवादी समतावादी सिद्धांत ने 1950 में लागू हुए भारत के संविधान के सारांश को प्रभावित किया। जिसे डॉ. अंबेडकर द्वारा आजाद भारत के संपूर्ण राष्ट्रीय नेतृत्व के समर्थन के साथ तैयार किया गया था।

निखरते हुए संगठित निजी क्षेत्र में आरक्षण की मांग उसी तर्क के अनुसार है, जिसके तहत तब विकसित होते सार्वजनिक उपक्रमों तथा संस्थानों में आरक्षण को विस्तार दिया गया था।

संविधान निर्माण के परिणाम योजनाएं कार्यक्रम उपलब्धियां और सीमाएं

आरक्षण में निरंतरता, विस्तार और बाधाएं : संविधान की छाया तले भारत देश और दलितों की ताजातरीन यात्रा में पहला कदम अनुसूचित जातियों के लिए सरकारी नौकरियों में आरक्षण देकर उठाया था। आरक्षण के सवाल को सबसे पहले 1943 में बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर ने वायसराय के कार्यकारी परिषद के सदस्य के रूप में पूरी श्रेष्ठता के साथ अस्तित्व में लाया था, जो कि आजादी के बाद भी अस्तित्व में रहा और संविधान के तहत भी जारी रहा। 1950 के बाद अनुसूचित जनजातियों को भी आरक्षण योजना के अंतर्गत ले आया गया। 26 जनवरी, 1950 को संविधान लागू होने के बाद इसे संवैधानिक आधार मिल गया। उसके बाद से बिना किसी रूकावट के यह जारी है। छह दशक लंबी यह निरंतरता भारत के लिए उपलब्धि का विषय है। स्वाभाविक रूप से उग्र शोषण और वंचित रखे जाने की सदियों पुरानी प्रक्रिया और इसके परिणाम अल्पकालीन नहीं हो सकते। स्थिति में बेहतरी अवश्य आयी है। रोजगार का क्षेत्र और उन शिक्षण संस्थानों की श्रेणियां, जहां आरक्षण लागू हैं, धीरे-धीरे व्यापक हुए हैं। जैसे-जैसे भारतीय औद्योगिक नीति के अनुरूप सार्वजनिक क्षेत्र का विकास हुआ आरक्षण सार्वजनिक उपक्रमों तथा दूसरे संस्थानों में भी लागू हुआ। अब निखरते हुए संगठित निजी क्षेत्र में आरक्षण की मांग उसी तर्क के अनुसार है, जिसके तहत तब विकसित होते सार्वजनिक उपक्रमों तथा संस्थानों में आरक्षण को विस्तार दिया गया था। राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ आरक्षण को सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों तक विस्तार दिया गया। तत्पश्चात विश्वविद्यालयों को भी शामिल कर लिया गया। यह महसूस किये जाने के बाद कि पदोन्नति द्वारा भरे जाने वाले उच्च पदों पर अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के प्रतिनिधित्व की गति बहुत धीमी थी। पदोन्नतियों में भी आरक्षण लागू किया गया। इन बदलावों को लाने में बाबू जगजीवन राम की एक वरिष्ठ केन्द्रीय मंत्री के रूप में मौजूदगी ने बहुत मदद की। एक उच्चस्तरीय समिति (एचपीएसी), जिसके अध्यक्ष प्रधानमंत्री और बहुत लंबे समय तक बाबू जगजीवन राम सदस्य थे, समय-समय पर बैठकें हुआ करती थीं, प्रगति की जानकारी लेती थी और फिर आगे की कार्रवाइयों के लिए निर्देश देती थी। (1980 के दशक के मध्य के बाद इसकी बैठकें विरले ही कभी-कभी होती थीं) साथ ही साथ मैट्रिक पश्चात छात्रवृत्ति योजना (पीएमएस) और विदेश छात्रवृत्ति योजना (ओएसएस) अनुसूचित जातियों के लिए जिनकी शुरूआत 1943 में डॉ. अंबेडकर के प्रयासों के फलस्वरूप हुई थी और जिन्हें जल्दी ही अनुसूचित जनजातियों तक भी बढ़ा दिया गया था, आजादी के बाद से अभी तक जारी है। हालांकि पर्दे के पीछे से उनमें छेद करने या उन्हें अशक्त बनाने की कोशिशें होती रही हैं।

इन योजनाओं की शुरूआत और उनके जारी रहने से हमारे इतिहास में पहली बार परंपरागत व्यवसाय से मुक्त शिक्षित मध्यम वर्गीय दलितों का अस्तित्व सामने आया। हालांकि आनुपातिक रूप से

इनकी संख्या बहुत कम थी, फिर भी ये दलितों के चौतरफा विकास में सहायक एवं उत्प्रेरक बनने में सक्षम थे। लेकिन यह प्रगति बहुत धीमी है और इसका विस्तार भी सीमित है। इसकी वजह कुछ हद तक यह थी कि 1960 और 1970 के दशकों में दलितों की उपस्थिति बढ़ने और दिखने के परिणामस्वरूप आरक्षण नीति में और अधिक बेहतरी के प्रयासों का विरोध होने लगा, 1990 के बाद सरकार की तरफ से ढ़िलाई बरतने के कारण भी स्थिति बेहतर नहीं हो सकी। बैकलॉग के भरने के लिए समय-समय पर सरकार द्वारा शुरू किये गये विशेष संचालनों की वजह से बैकलॉग कम तो हुआ, लेकिन यह पर्याप्त मात्रा में गति बढ़ाने और बैकलॉग को पूरी तरह से खत्म करने में सफल नहीं हो पाये।

आरक्षण के लिए कानून बनाने संबंधी प्रयास : कानून बनाकर आरक्षण को अधिक मजबूत और पारदर्शक बनाने की 1990 में सबसे पहले शुरू की गयी कोशिश अभी तक सफल नहीं हो पायी है। 1990 में एक व्यापक विधेयक तैयार किया गया था। जिसमें आरक्षण के सभी पहलुओं को शामिल किया गया तथा आरक्षण संबंधी शिकायतों को जल्द से जल्द निवारण के लिए केन्द्र तथा सभी राज्यों में आरक्षण न्याय अदालतों या आरक्षण अदालतों के प्रावधान तथा लापरवाही के लिए पैनल के प्रावधान की व्यवस्था थी, उसे लटका दिया गया। यह 1996-97 की संयुक्त मोर्चा सरकार का एक अधूरा वायदा बना रहा– संयुक्त मोर्चे ने अपने न्यूनतम साझा कार्यक्रम के एक हिस्से के रूप में दलित घोषणा पत्र 1996, जिसका एक अंग आरक्षण के लिए कानून बनाया था को पूर्ण रूप से अपनाया था। इसे वर्तमान संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन के न्यूनतम साझा कार्यक्रम तथा संप्रग सरकार के राष्ट्रीय न्यूनतम साझा कार्यक्रम में भी स्थान दिया गया है। लेकिन तैयार विधेयक इस मायने में जटिल हो गया है, क्योंकि सामाजिक एवं शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों, जिन्हें अन्य पिछड़ा वर्ग तथा पिछड़ा वर्ग कहा जाता है के लिए आरक्षण को भी इसी में शामिल कर लिया गया है। लेकिन इसमें कई विशेष विवरण और पेंचीदगियां हैं, जिनके समाधान में समय लग रहा है। आरक्षण न्याय अदालत के प्रावधान और जुर्माने को इसमें शामिल किये जाने की जरूरत है। इस क्रम में एएनए इसलिए जरूरी है कि आरक्षण से संबंधित नाइंसाफियों से संबंधित शिकायतों के निवारण की जिम्मेदारी अगर सामान्य अदालतों या ट्रिब्यूनल्स पर छोड़ दी जाये तो अंतहीन विलंब हो सकता है।

> **कानून बनाकर आरक्षण को अधिक मजबूत और पारदर्शक बनाने की 1990 में सबसे पहले शुरू की गयी कोशिश अभी तक सफल नहीं हो पायी है। 1990 में एक व्यापक विधेयक तैयार किया गया था।**

समूह 'ए' में अनुसूचित जातियां-पर्याप्त मगर धीमी प्रगति लक्ष्य : इतने पास, फिर भी कितने दूर

इन कमियों का कुल परिणाम यह निकला है कि अभी तक अनुसूचित जातियां भारत सरकार के 'ए' और 'बी' वर्ग की नौकरियों में निर्धारित प्रतिशत तक नहीं पहुंच पाये हैं और उच्च शैक्षणिक संस्थानों की आरक्षित सीटों को भर पाने की स्थिति में नहीं हैं और अनुसूचित जनजातियों की स्थिति तो और भी बुरी है।

अनुसूचित जातियों को वर्ग 'ए' की नौकरियों में 1 जनवरी, 1974 तक 3.25 प्रतिशत तक पहुंचने में ढ़ाई दशक लगे हैं। वर्ष 1994 तक 10.25 प्रतिशत तक पहुंचने में और दो दशक लगे। 1999 तक के पांच वर्षों तक उनका प्रतिशत 11.29 तक पहुंचा, जबकि 2004 के 12.2 प्रतिशत तक पहुंचते-पहुंचते और आधा दशक गुजर गया। यह कष्टदायी धीमी गति अपनी कहानी खुद कहती है। अगर आगे और अधिक सुस्ती नहीं आती है, तो इस वर्तमान दर से 15 प्रतिशत के निर्धारित लक्ष्य तक पहुंचने में कम से कम और 15 वर्ष लगेंगे। और अगर यह प्रगति वहां नहीं रूकेगी, तो पांच वर्ष बाद यह प्रतिशत अनुसूचित जातियों के वर्तमान जनसंख्या प्रतिशत यानी 16.2 तक पहुंच पायेगा। एक साधारण गणना से ही स्पष्ट हो जाता है कि लक्ष्य कितने पास मगर फिर भी कितनी दूर है। 1 जनवरी, 2004 तक वर्ग 'ए' की कुल क्षमता यानी 80,011 में से 9,744 अधिकारी अनुसूचित जाति के थे। 15 प्रतिशत तक पहुंचने के लिए अनुसूचित जाति के सिर्फ 2258 अधिकारियों के बहाल या पदोन्नत होकर वर्ग 'ए' में पहुंचने की जरूरत है। जबकि अन्य 960 अधिकारियों के वर्ग 'ए' में आते ही यह प्रतिशत 16.2 तक पहुंच जायेगा। (यह मानते हुए कि वर्ग 'ए' की कुल क्षमता स्थिर रहेगी) अगर राजनीतिक एवं प्रशासनिक नेतृत्व इस लक्ष्य तक जल्द से जल पहुंचने का फैसला करता है और केन्द्र सरकार के विभिन्न मंत्रालयों/विभागों और संगठनों में बहालियों की योजना बनाता है, तो यह लक्ष्य एक या दो अथवा अधिक से अधिक तीन वर्षों में हासिल किया जा सकता है। अगर ऐसा हुआ तो यह आज की सरकार तथा सत्ताधारी दलों की एक बहुत बड़ी उपलब्धि मानी जायेगी। लेकिन इसके लिए पर्याप्त संकल्प, समुचित योजना निर्माण, निरंतर निरीक्षण और किसी भी तरह के विध्वंस को नाकाम करने के लिए उचित समय पर परिणामों की समीक्षा की जरूरत है। लेकिन जब हम संख्या पर आते हैं, तो आंखों को एक और अजीब-सी बात खटकती है। 1 जनवरी, 1999 के दिन अनुसूचित जातियों के वर्ग 'ए' अधिकारियों की जो संख्या 10,558 थी वह 1 जनवरी, 2004 तक आते-आते घटकर 9.744 तक ही रह गयी। भारत के इतिहास में यह पहला अवसर है जब अनुसूचित जातियों की संख्या इस तरह से घटी है। यह सही है कि इस अवधि को वर्ग 'ए' के अधिकारियों की कुल संख्या भी 93, 520 से घटकर 80,011 रह गयी है। यह जरूरी नहीं था कि सामान्य श्रेणी के अधिकारियों की घटती संख्या के साथ अनुसूचित जातियों के कम प्रतिनिधित्व को यांत्रिक रूप से कम किया जाता। अनुसूचित जातियों की संख्या को रोके रखने के लिए उपाय किये जा सकते थे। अगर उन्हीं सुनिश्चित वर्ग ए अधिकारियों की संख्या कायम रखी जाती तो वह 13.19 प्रतिशत तक आता, जिसके बाद 15 प्रतिशत तक पहुंचने के लिए सिर्फ 1,444 और 16.2 प्रतिशत तक पहुंचने के लिए 2004 का अंतर रह जाता, जिन्हें एक या दो वर्ष के योजनाबद्ध कार्रवाईयों द्वारा खत्म किया जा सकता था।

अगर इसी तरह के संकल्पयुक्त सतर्कता के साथ योजनाबद्ध कार्रवाईयां सभी सार्वजनिक उपक्रमों, सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों तथा सभी विश्वविद्यालयों में हर मंत्रालय के विभागों तथा अन्य नियंत्रण प्राधिकरणों द्वारा की जायें तो आरक्षण लक्ष्य जल्दी से जल्दी हासिल किया जा सकता है। और इस तरह उस लंबी यात्रा के पहले पड़ाव तक

बिना अनावश्यक बिलंब के पहुंचा जा सकता है। जिसकी शुरुआत 1943 में बाबासाहेब डॉ. अंबेडकर द्वारा की गयी थी और जिसे अभी तक नकारात्मक रवैये के साथ अपनायी गयी निरुत्साहित लापरवाही की वजह से अनावश्यक रूप से निलंबित होना पड़ा था। यहां तक उल्लेखनीय है कि मानव संसाधन विकास मंत्रालय और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा हाल ही में विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों से संबंधित कुछ कदम उठाये गये हैं, जो इसी दिशा में हैं।

वर्ग 'बी' अनुसूचित जातियां : फिर लक्ष्य कितने पास, लेकिन कितने दूर

अब वर्ग 'बी' की सरकारी नौकरियों पर आते हैं। 1 जनवरी, 1974 तक वर्ग बी की नौकरियों को ढाई दशकों का सफर तय करना पड़ा था। अगले दो दशकों बाद यानी 1994 में यह संख्या 12.68 प्रतिशत तक पहुंची और फिर 2004 में 14.5 प्रतिशत के आंकड़े तक पहुंचने में अनुसूचित जातियों को पांच और वर्ष लग गये। अगर और अधिक सुस्ती नहीं आयी तो वर्तमान गति से इसे 15 प्रतिशत के निर्धारित प्रतिशत तक पहुंचने में दो वर्ष लगेंगे और यह प्रक्रिया वहीं पर नहीं रोक दी गयी तो अनुसूचित जातियों के वर्तमान जनसंख्या के प्रतिशत यानी 16.2 तक पहुंचने में अभी इसे एक और वर्ष लगेगा। एक साधारण गणना से पता चल जायेगा कि बहुत हद तक वर्ग 'ए' के मुकाबले भी लक्ष्य भले ही बहुत पास लगता हो, लेकिन वास्तव में है बहुत दूर। 1 जनवरी, 2004 को वर्ग 'बी' की कुल क्षमता 135,400 के बीच से 19,602 अनुसूचित जाति के वर्ग बी अधिकारी हैं। ऐसे में 15 प्रतिशत तक पहुंचने के लिए सिर्फ 710 अनुसूचित जाति के अधिकारियों तथा 16.2 प्रतिशत तक पहुंचने के लिए केवल 1625 अनुसूचित जाति के अधिकारियों की वर्ग बी में बहाली या पदोन्नति किए जाने की जरूरत है। (यह मानते हुए कि वर्ग बी की कुल क्षमता स्थिर रहेगी) यह लक्ष्य इसी वर्ष हासिल किया जा सकता है। इसके पूरे होने की घोषणा वर्तमान सरकार और सत्ताधारी पार्टियों के लिए एक बड़ी उपलब्धि हो सकती है। लेकिन इसके लिए उसी तरह के संकल्प और योजनाबद्ध कार्रवाइयों की जरूरत है, जिनका जिक्र वर्ग 'ए' के अंतर को भरने के लिए किया जा चुका है।

अनुसूचित जनजातियों की स्थिति तो और भी बुरी है। उनकी उपस्थिति न सिर्फ वर्ग 'ए' और 'बी' में कम है, बल्कि वर्ग 'सी' और 'डी' में भी वे अपने लिए निर्धारित प्रतिशत 7.5 से कम है।

वर्ग-सी में अनुसूचित जातियां : आखिरकार लक्ष्य पूरा

यह स्वागत योग्य है कि वर्ग सी की नौकरियों में अनुसूचित जातियों ने 15 प्रतिशत का लक्ष्य 1990 के दशक की शुरुआत में और जनसंख्या के बराबर 16.2 प्रतिशत का लक्ष्य 2004 के पहले ही हासिल कर लिया था, लेकिन वास्तव में इसमें जितना वक्त लगा उससे बहुत कम समय यानी आधी शताब्दी से पहले ही यह लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता था, लेकिन वर्ग-सी के अनुसूचित जाति कर्मचारियों की संख्या 1999 में महत्वपूर्ण रूप से 3,78,115 से 3,44,865 तक की गिरावट आ चुकी है। यह सरकार की झिझक और अनुसूचित जातियों के ऐसे लोग जो कि वर्तमान में इस स्तर तक पहुंचने की कोशिश करने के लिए तो पर्याप्त रूप से शिक्षित हैं, लेकिन ऊंचे वर्गों के लिए नहीं। उनके लिए सरकारी नौकरियों में अवसरों की कमी का परिचायक है। यह प्रवृति मध्यम वर्ग संरचना प्रक्रिया को पलटने का खतरा पैदा कर रही है, जो कि पूर्व की अर्द्ध शताब्दी में जारी रही थी। यह राज्य सरकार और नागरिक समाज के नेताओं को दलितों का दर्द समझने में मदद कर सकता है। जब यह कहीं और बिना क्षतिपूरक विस्तार के लिए होता है, जैसे अब तेजी से व्यापक होते संगठित निजी क्षेत्र में।

वर्ग डी में अनुसूचित जातियांः हमेशा भरी हुई

व्यवस्था के लिए हमेशा से ही वर्ग-डी में आरक्षण पूरा करना आसान रहा है, लेकिन चिंता की बात वह प्रवृति है, जिसके तहत पिछले दशक में वर्ग-डी में अनुसूचित जातियों के प्रतिशत में गिरावट आ रही है। 1974 की संख्या 2,30,203 घटकर 1994 में 2,09,423 तक आ गयी और 2004 तक यह संख्या 1,47,212 तक कम हो गयी। यह प्रवृति उस वर्ग के लिए उल्लेखनीय रूप से नकारात्मक है, जो कि अभी भी बहुत संख्या में है और आज के दिन इस किस्म और स्तर की नौकरियों की तलाश में हैं।

आरक्षण की व्यापक पहुंच

यह एक सच्चाई है कि आरक्षण और शिक्षा, जो साथ-साथ चलते हैं अनुसूचित जातियों के बहुत बड़े हिस्से तक नहीं पहुंच पाये हैं। जिन्हें आरक्षण का फायदा मिला है, उनकी संख्या अनुसूचित जातियों की कुल जनसंख्या की लगभग दो प्रतिशत तथा अनुसूचित जातियों की जनसंख्या का लगभग एक प्रतिशत है। लेकिन उन्हें 'क्रीमी लेयर' घोषित करना गलत होगा क्योंकि सीमित संख्या वाले इन लोगों ने तमाम तरह की सामाजिक एवं आर्थिक बाधाओं को पार करते हुए शिक्षा ग्रहण की और मुख्य रूप से सरकारी एवं सार्वजनिक क्षेत्र की नौकरियां ग्रहण की। यह उन लोगों का बहाना है, जो अपनी जिम्मेदारियों को निभाने में असफल रहे हैं। असली गुनहगार तो राज्य है, जो संविधान के अनुच्छेद 46 के तहत दलितों को आर्थिक रूप से इस कदर सशक्त करने में असफल रहा है, ताकि वे शिक्षा विशेष रूप से उच्च शिक्षा ग्रहण कर सकें। वह उन्हें शिक्षित करने के लिए जोरदार अभियान चलाने में असफल रहा है।

अनुसूचित जनजातियां- हर वर्ग में कमतर

अनुसूचित जनजातियों की स्थिति तो और भी बुरी है। उनकी उपस्थिति न सिर्फ वर्ग 'ए' और 'बी' कम है, बल्कि वर्ग 'सी' और 'डी' में भी वे अपने लिए निर्धारित प्रतिशत 7.5 से कम है। आरक्षण लागू होने के शुरुआती 25 वर्षों के दौरान वे सिर्फ 0.57 प्रतिशत तक ही पहुंच पाये। अगले दो दशकों में यह संख्या धीरे-धीरे 2.92 प्रतिशत तक आयी। अगले पांच वर्षों में यह आंकड़ा 3.39 प्रतिशत तक आ पाया, जबकि उसके आगे के पांच वर्षों बाद ये 4.1 प्रतिशत तक पहुंच पाये हैं, जो कि 8.2 प्रतिशत की उनकी जनसंख्या की आधी है। वर्ग 'सी' में उनका आंकड़ा 1974 में 2.13 प्रतिशत 1994 में 5.38 प्रतिशत, 1999 में 6.07 प्रतिशत, 2004 में 6.7 प्रतिशत था। वर्ग डी में यह आंकड़ा 1974 में 3.84 प्रतिशत, 1994 में 6.15 प्रतिशत, 1999 में 7 प्रतिशत तथा 2004 में 6.7 प्रतिशत (घटा हुआ) था। वर्तमान हतोत्साही प्रणाली द्वारा अनुसूचित जनजातियों को अनुसूचित जातियों

के मुकाबले इस अंतर को भरने में अधिक समय लगेगा, लेकिन सुनिश्चित संख्या के लिहाज से अपेक्षाकृत कम अवधि के भीतर इसे अंजाम दिया जा सकता है। अगर उसी तरह दृढ़ संकल्प एवं इच्छाशक्ति के साथ योजनाबद्ध तरीके से इसमें लगा जाये, जैसा अनुसूचित जाति के वर्ग 'ए' और 'बी' के संबंध में पहले बताया जा चुका है। वर्ग सी और डी में सुनिश्चित संख्या में आयी कमी पर ध्यान दिया जाना आनवश्यक है। फिर भी उन्हें शिक्षा, विशेषतः उच्च शिक्षा ग्रहण करने लायक आर्थिक मजबूती प्रदान करने और उनके लिए व्यापक स्तर पर शिक्षा अभियान छेड़ने में असफल रहने वाले राज्य की बजाय तथाकथित 'क्रीमी लेयर' का बहाना बनाया जा रहा है।

वर्ग 'ए' के उच्चतर स्तर के आरक्षण आंकड़े पारदर्शी नहीं

एक और बात ध्यान देने लायक है कि वर्गों की कुल संख्या वास्तविक सच्चाई छिपा रही है। उदाहण के लिए वर्ग-ए में जैसे-जैसे ऊपर के स्तर तक जाते हैं, अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की उपस्थिति का अभाव लगातार बढ़ता चला जाता है। भारत सरकार वर्ग-ए के हर स्तर के लिए अलग-अलग आंकड़े प्रकाशित नहीं करती, जिससे वह पारदर्शिता नहीं आ पाती, जिनकी अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को जरूरत है। भारत सरकार के लगभग 100 सचिवों में से फिलहाल अनुसूचित जाति के केवल एक अधिकारी सचिव हैं। अनुसूचित जनजाति के दो अधिकारी सचिव पद पर हैं। पेंच के अंदर यह पेंच इसलिए है, क्योंकि 1992 के इन्द्रा साहनी मामले में फैसले के बाद अनुसूचित जातियों-जनजातियों की पदोन्नति के लिए पारित हुए 77वें संविधान संशोधन अधिनियम के तहत अनुच्छेद 16 में नया खण्ड (4ए) जोड़े जाने के बाद भी पदोन्नति के स्तर की सीमा तय किये बिना इसे वर्ग-ए के पदों के पहले स्तर तक ही सीमित रखने के पुराने नियम को फिर से लागू कर दिया गया। इसका व्याख्या इसकी आधार पर की जा सकती है कि जिन्होंने उन नियमों की स्वीकृति दी थी। वे अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को ऊंचे पदों पर नहीं देखना चाहते और जितना संभव हो सके इस प्रक्रिया के कार्यान्वयन में देर करवाना चाहते हैं। इस आशंका का कोई औचित्य नहीं है कि ऊंचे पदों पर अयोग्य अधिकारी काबिज हो जायेंगे, क्योंकि कोई कर्मचारी चाहे अनुसूचित जाति का हो, अनुसूचित जनजाति का हो या फिर सामान्य वर्ग का हो उसे तभी पदोन्नति मिलती है जब वह निर्धारित योग्यता को पूरा कर रहा होता है।

भूमिहीनता और कृषि के क्षेत्र में उनकी पराधीनता पहले और आज भी दलितों की बदहाल स्थिति, भारतीय जाति व्यवस्था और परंपरागत भारतीय सामाजिक-आर्थिक संरचना की आधारभूत लक्षण रहे हैं।

आरक्षण का फीकापन : निजीकृत सार्वजनिक उपक्रम और संशोधित कार्यक्रमावली सूची

आरक्षण के फायदों को कम करने के लिए अपनाया गया एक तरीका था सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में इसे जारी न रखना, जो निजीकृत थे। दलितों एवं पिछड़े वर्गों को हो रहे इस नुकसान की भरपाई का एक साधारण तरीका एक प्रावधान जोड़कर हो सकती थी, कि अनुसूचित जातियों-जनजातियों और पिछड़े वर्गों को आरक्षण उसी तरह जारी रहेगा जिस तरह निजीकरण के पहले था और भविष्य में कोई बदलाव भी लागू होगा। यह साधारण सा कदम नहीं उठाया गया। हालांकि यह 1996 में किया गया दलित घोषणा पत्र आधारित वायदा था और 1999 में हुई अनुसूचित जाति-जनजाति नेताओं की सर्वदलीय बैठक की सिफारिशों का एक विशेष हिस्सा था।

सभरवाल मामले में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्देशों की गलत व्याख्या एक जैसी शरारत थी, जिसमें अभी भी संशोधन नहीं किया जा सका। 1992 के रोस्टर में जिन अनुसूचितजाति और जन जातियों को पहले और तीसरे या चौथे स्थान पर रखा गया था उस गलत व्याख्या के आधार पर 1997 के परिवर्तित रोस्टर में उन्हें क्रमशः सातवें और तेरहवें स्थान पर रख दिया गया।

भूमि सूधार : सभी दलितों की भूमि का हड़पा जाना

भूमिहीनता और कृषि के क्षेत्र में उनकी पराधीनता पहले और आज भी दलितों की बदहाल स्थिति, भारतीय जाति व्यवस्था और परंपरागत भारतीय सामाजिक-आर्थिक संरचना की आधारभूत लक्षण रहे हैं। 'खेतिहर को जमीन' का स्वतंत्रता आंदोलन का नारा भारतीय अर्थव्यवस्था के स्वभाव के अनुसार सबसे अधिक उपयुक्त था। इसका मतलब यह था कि हर खेतिहर को जमीन मिले और उसके पास जमीन न रहे जो खेतिहर न हो या सभी गैर-खेतिहरों से जमीन ले ली जाये। खेतिहर और गैर खेतिहर को पारिभाषित करना जरूरी था। पहला लक्ष्य दलितों को सदियों पुरानी दासता से मुक्ति दिलाते हुए हर दलित को भूमिपति बनाकर उनकी भूमि को पूरी तरह से विकसित करना होना चाहिए था। अगर ऐसा किया जाता तो वे छुआछूत के खिलाफ अपने संघर्ष में सशक्त हो चुके होते और भारतीय समाज तथा देश पर लगा यह धब्बा कभी का मिटाया जा चुका होता। दलितों पर अत्याचार बंद हो चुके होते। (जिसकी लंबी श्रृंखला की नवीनतम कड़ी खैरलांजी है। लेकिन विदेशी शासन के दौरान बने कानूनों और उनकी व्याख्या मद्रास उच्च न्यायालय की 1908 के एस्टेट्स लैण्ड एक्ट में मौजूद किसानी और किसानी भूमि की व्याख्या) शब्दों का इस्तेमाल हल्के ढंग से किया गया। इसके परिणामस्वरूप अनेक राज्यों में अधूरे मन से तथा धीमी रफ्तार से बनाये गये विभिन्न भूमि सुधार अधिनियमों ने दलितों को भूमिहीनता, कृषि कामागार और सामाजिक तथा शारीरिक रूप से असुरक्षा की सदियों पुरानी स्थिति में ही छोड़ दिया। यह सच है कि जब सत्ता में कुछ लोगों ने रुचि ली तब कुछ समय तक कुछ राज्यों में कुछ जमीन बांटी गयी, लेकिन ये मात्रात्मक बदलाव गुणात्मक बदलाव नहीं थे न ही इनकी बदौलत वे इतने सशक्त हो गये कि छुआछूत तथा अपने पर होने वाले अत्याचारों का सामना कर पाते, जिसका उन्हें हक था तथा जिसे संविधान ने भी जरूरी बताया था। संवैधानिक संस्थाओं के नेतृत्व, ऊंची जाति के प्रमुख लोग राजनीतिक दल एवं उच्च नागरिक समाज जिनका सरकार तंत्र तथा दूसरी संस्थाओं पर वर्चस्व था, वे दलितों के खिलाफ होने वाले अत्याचारों, अभी मौजूद छुआछूत, उनकी सर्वांगीण कमजोरियों तथा इसके परिणामस्वरूप भारत के विकास में आने वाली रूकावट के लिए जिम्मेवार हैं।

अनुसूचित जाति का भूमि में कमतर हिस्सा

अनुसूचित जातियों में आज के दिन पूरी तरह से भूमिहीन नहीं हैं। विपरीत परिस्थितियों के बावजूद उनमें से कुछ लोग एक सीमित

दायरे में कुछ स्थानों पर जमीन के थोड़े-बहुत टुकड़े रखे हुए हैं। परंपरागत व्यवस्थाओं के तहत कई स्थानों पर उन्हें सामूहिक रूप से कुछ जमीन दी गयी तमाम सामाजिक बुराइयों के बीच उन्हें उस जमीन के सहारे अपना जीवन-यापन करना था। डॉ. अंबेडकर ने भारत की आजादी के पहले ही यह मुद्दा उठाया था कि ऐसी जमीनों को बिना शर्त उन लोगों को दे दी जाये जो उसपर खेती कर रहे थे। आजादी के बाद कुछ सीमित भूमि सुधारों द्वारा कुछ छोटे ईमानदारों तथा बटाईदारों को जमीनें दी गयीं। उन्हें सीलिंग तथा कुछ पुनर्वितरण कानूनों के माध्यम से भी जमीनें मिलीं। सरकारी आंकड़ों के अनुसार 2,79,41,787 ग्रामीण परिवारों में से 20,80,000 अनुसूचित जातियों के बीच 18.03 लाख जमीन बांटी गयी, लेकिन इसका एक हिस्सा वास्तव में अनुसूचित जातियों तक नहीं पहुंच पाया। कुछ जमीन सरकारी बजंरभूमि या गैर मजरुआ आम भूमि की बंटाई के माध्यम से उनके हिस्से आयी थी। इन गतिविधियों की वजह से वर्तमान में अनुसूचित जातियों के हिस्से में भारत की कुल कृषि योग्य भूमि का 7 से 8 प्रतिशत आ चुका है, लेकिन ये जमीनें आमतौर पर गांवों में दूर-दराज की हैं और बहुत बुरी स्थिति में हैं। ऐसी जमीनें अनुसूचित जातियों के लोगों के हिस्से में कम ही आयी हैं। जिनमें सिंचाई की अच्छी सुविधा है। हालांकि दूसरों की अपेक्षा अनुसूचित जातियों के हिस्से में बहुत कम जमीन है लेकिन उनके पास अभी भी दीर्घकालीन विकास के लिए पर्याप्त जमीन है। यह जमीन 12 मिलियन से 13 मिलियन हेक्टेयर के बीच है। अगर सामुदायिक बोरवेल या सामुदायिक ट्यूबवेल जैसी लघु सिंचाई योजनाओं के तहत यह सारी जमीन सिंचित हो जाये तो अनुसूचित जातियों से आने वाले थोड़े बहुत जमीन वाले कृषक मजदूर तीन फसलें पैदा कर पायें। तब वे मजदूर नहीं रह जायेंगे और आर्थिक आजादी की तरफ बढ़ने के क्रम में इतने सशक्त हो जायेंगे कि अपने बच्चों को स्कूल भेजने की स्थिति में होंगे, इस सिलसिले में 1990 में कल्याण मंत्रालय द्वारा प्रस्ताव तैयार किये गये थे, लेकिन योजना आयोग ने उन्हें ठुकरा दिया था, दलित घोषणा पत्र और दूसरे कागजातों द्वारा इसके लिए सरकार में मौजूद राजनीतिक दलों पर दबाव बनाया गया था। यह संयुक्त मोर्चा सरकार का न्यूनतम साझा कार्यक्रम में किया गया वायदा था और अब वर्तमान यूपीए सरकार के राष्ट्रीय न्यूनतम साझा कार्यक्रम में समाहित है, लेकिन इसके निर्णायक महत्व के बावजूद अभी तक इस वायदे को पूरा नहीं किया गया है। यही स्थिति अनुसूचित जनजातियों की भी है, जिन्हें उनकी जनसंख्या के अनुपात में पर्याप्त जमीन मिली हुई है, लेकिन सिंचित जमीन में उनका हिस्सा बहुत कम ही है। अनुसूचित जातियों के लिए तैयार प्रस्ताव, मांगें तथा वायदों में अनुसूचित जनजातियां भी शामिल हैं।

गिनती के कुछ लोग जो तमाम तरह की बाधाओं को पार करते हुए आगे बढ़े उन्हें *क्रीमी लेयर* घोषित कर यह जतलाने की कोशिश की गयी कि उन्हीं की वजह से आम दलितों तक आरक्षण के फायदे नहीं पहुंच पाये हैं।

शिक्षा : मैट्रिक के बाद छात्रवृत्ति, केन्द्र प्रायोजित योजनाएं और आरक्षण का समर्थन

दलितों के लिए भूमिहीनता तथ कृषि संबंधी दासता से मुक्ति के अलावा शिक्षा भी बहुत अधिक जरूरी है। निश्चित रूप से इसमें मैट्रिक के बाद ही जाने वाली छात्रवृत्ति तथा छात्रावास पुस्तक बैंक जैसी केन्द्र प्रायोजित योजनाएं, जिन्हें समय-समय पर लागू किया जाता रहा है के मदद की है, लेकिन आम दलितों तक शिक्षा के प्रसार के लिए और भी बहुत कुछ किये जाने की जरूरत है।

आम दलितों तक शिक्षा को पहुंचाने के लिए बड़े पैमाने पर चलाये जाने वाले अभियान का अभाव

जिस क्रूरता के साथ अतीत में दलितों तक शिक्षा को पहुंचने से रोका जाता रहा है। महाभारत के एकलव्य का अंगूठा याद कीजिये और दलितों की उच्च शिक्षा क्षेत्र में संभावनाओं के जानते हुए भी विदेशी शासकों द्वारा इस दिशा में निर्णायक कदम न उठाये जाने की वजह से उनकी उच्च शिक्षा क्षेत्र में लगभग गैर मौजूदगी के मद्देनजर ऐसे व्यापक अभियान चलाये जाने की जरूरत थी, ताकि दलितों के बच्चों को सभी स्तरों तथा सभी क्षेत्रों में उच्च स्तरीय शिक्षा उपलब्ध होती। इसे आजाद भारत का सबसे अधिक उपेक्षित क्षेत्रों में से एक माना जा सकता है। वित्तीय स्रोतों के आवंटकों तथा योजनाकारों द्वारा इसे खत्म करने की चालाकी से भरे प्रयासों के बावजूद आजादी से पहले की डॉ. अंबेडकर की धरोहर रही और अभी तक जारी मैट्रिक के बाद दी जाने वाले छात्रवृति योजना तथा शिक्षा में आरक्षण इसके अपवाद हैं। आम दलितों को कृषि तथा दूसरी समस्याओं में लगाये रखकर उन्हें शिक्षा, विशेष रूप से उच्च शिक्षा को, जिनकी संभव हुआ दूर रखा गया। गिनती के कुछ लोग जो तमाम तरह की बाधाओं को पार करते हुए आगे बढ़े उन्हें *क्रीमी लेयर* घोषित कर यह जतलाने की कोशिश की गयी कि उन्हीं की वजह से आम दलितों तक आरक्षण के फायदे नहीं पहुंच पाये हैं। यह पिछली सदियों पुरानी तथा 19वीं शताब्दी में जारी रही जाति व्यवस्था की देन है।

दलितों के लिए भूमि और शिक्षा : दलितों को उच्च स्तर की शिक्षा नहीं पहुंचा पाना तथा सभी ग्रामीण दलित परिवारों को भूमि को आवंटन नहीं करवा पाना भारत सरकार तथा सत्ताधारियों की दलितों से संबंधित सबसे बड़ी असफलता रही है। पीएमएस, आरक्षण तथा होस्टल की सहायता से कामयाब हो गये दलित आबादी के एक छोटे से तबके के अलावा दलितों की शिक्षा के क्षेत्र में वैसी ही स्थिति रही जैसी आजादी के पहले थी। इससे छुआछूत के खिलाफ लड़ने की क्षमता और समानता के लिए उनका दावा प्रभावित हुआ है।

छुआछूत समस्या और अनुच्छेद 17 का मूलभूत फैसला : छुआछूत की समस्या को आजादी के पहले के राष्ट्रवादी नेतृत्व ने खूब अच्छी तरह से पहचाना था। इसके खात्मे के लिए राष्ट्रीय प्रतिबद्धता येरवदा अधिनियम में झलकती है। यह प्रतिबद्धता संविधान के अनुच्छेद 17 में भी नजर आती है, जिसमें लिखा गया है कि 'छुआछूत का उन्मूलन हो गया है और किसी भी रूप में इसका प्रयोग ठहराने की कोशिश कानून के अनुसार दंडनीय अपराध है। लेकिन सिर्फ यह घोषित भर कर देने से कि इस बुराई का उन्मूलन हो गया है वह खत्म नहीं हो जायेगी, इस घोषणा के साथ-साथ उपयुक्त कार्रवाइयों की भी जरूरत है।'

अनुच्छेद 17 का धीमा एवं लापरवाह कार्यान्वयन अनुच्छेद 17 के प्रावधानों को तत्काल ही लागू किया जाना चाहिए था, लेकिन छुआछूत (अपराध) अधिनियम 1955 बनाने में साढ़े पांच वर्ष लग गये।

(आजाद भारत के नेतृत्व की गंभीरता और प्राथमिकताओं पर गौर कीजिये) तत्काल बाद ही इस अधिनियम की कमियों को महसूस किया जाने लगा। लेकिन छुआछूत (अपराध) संशोधन तथा फुटकर प्रतिबंध अधिनियम को सत्रह वर्षों बाद ही 1972 में लोकसभा में पेश किया जा सका और फिर उसे पारित करते-करते चार वर्ष और लग गये। 1976 में नागरिक अधिकार सुरक्षा अधिनियम 1955 कुछ कड़े प्रावधानों के साथ पारित हुआ, लेकिन यह भी पर्याप्त नहीं था।

पीसीआर अधिनियम का कार्यान्वयन तमाशा बन गया : इस अधिनियम की कमजोरियों के साथ कार्यान्वयन की कमियां भी जुड़ गयीं जिसके फलस्वरूप एक बहुत ही निराशाजनक तस्वीर उभरकर आयी।

कई राज्य यह कह रहे हैं कि उनके यहां छुआछूत से संबंधित कोई भी नया मामला दर्ज नहीं हुआ है, जो कि वास्तविकता से दूर है। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश में पिछले पांच वर्षों के दौरान, उत्तराखंड में इसके निर्माण के वर्ष से लेकर अभी तक, गुजरात में 2000, 2001 तथा 2002 में, बिहार में पिछले चार वर्षों के दौरान एवं राज्यसभा में 2001 और 2003 में छुआछूत से संबंधित एक भी मामला दर्ज नहीं हुआ। वे राज्य जहां पहले छुआछूत के मामले सबसे अधिक हुआ करते थे। उन्होंने ऐसा लगता है जैसे बत्ती गुलकर ली है, जिसका परिणाम राज्यों एवं अखिल भारतीय स्तर पर हुए थे। वहां एकाएक भारी कमी आ गयी और 2003 में सिर्फ तीन नये मामले सामने आये। हालांकि इस बात के कोई संकेत नहीं है कि वहां छुआछूत की भावना में एकाएक कमी आ गयी हो। पड़ोसी आंध्र प्रदेश में इन वर्षों में सैकड़ों के हिसाब से नये मामले दर्ज होते रहे हैं। 2003 में वहां 495 नये मामले दर्ज हुए जो कि अखिल भारतीय संख्या 651 का लगभग तीन चौथाई है। पंजीयन से संबंधित यह जो फर्क है वह बताता है कि किस लापरवाही के साथ इस मामले को लिया जा रहा है और कुछ मामलों में तो चुनाव संबंधित रिमोट कंट्रोल भी नजर आता है।

नये बदलावों के अनुरूप छुआछूत के कुछ नव-आधुनिक रूप देश के कई हिस्सों में स्थित ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में नजर आये हैं। उदाहरण के लिए बहुत से गांवों में चल रही चाय की दुकानें इसके नवीनतम उदाहरण हैं।

हर वर्ष की शुरुआत में पुलिस के पास पिछले वर्ष आये मामलों सहित जितने मामले होते हैं उनके आठवें से पांचवें हिस्से में ही अदालतों तक चार्जशीट दायर करने की स्थिति आ पाती है। 1999 से 2003 के बीच के पांच वर्षों के दौरान इस मामले में सबसे बेहतर प्रदर्शन 30 प्रतिशत और सबसे बुरा प्रदर्शन 13 प्रतिशत का रहा था। अदालतों में लंबित मामलो में से 13 से लेकर अधिकतम 29 प्रतिशत में सुनवाई समाप्त हो पायी। 2003 में सिर्फ 0.56 प्रतिशत मामलों में सजा सुनाई गयी। 2348 मामलों में से सिर्फ 13 को सजा हुई, जबकि 2335 मामलों में आरोपी छूट गये। सजा के मामले में भी भौगोलिक व्यापकता का अभाव है और अधिकतर सजाएं आधा दर्जन राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों से संबंधित मामलों में हुई हैं।

अनेक राज्यों में इस तरह शून्य से एकाध मामले दर्ज होते हैं, जिनमें से दोषियों को नहीं के बराबर सजा होती है तथा अधिकतर आरोपी छूट जाते हैं।

वार्षिक रिपोर्ट ऐसा कोई संकेत नहीं देते कि राज्य सरकारों या केन्द्र सरकार अनुच्छेद 15ए के विशेष आदेश का पालन करने की कोशिश कर रहे हैं। न ही वे आलोचनात्मक रूप से कमियों, असंगतियों की पहचान कर उन्हें ठीक करने की तरफ ध्यान दे रहे हैं।

कार्यान्वयन पूरी तहर से तमाशा बनकर रह गया है। इसे गंभीर रूप देने की कोशिश भी नहीं की जा रही है।

सरकारी आंकड़े बनाम जमीनी हकीकत : अखिल भारतीय या राज्यवार आंकड़े छुआछूत की जमीनी स्तर पर वास्तविक स्थिति से मेल नहीं खाते। जमीनी सच्चाई के कुछ पहलु इस तरह से हैं–

- छुआछूत की प्रथा पूरे भारत में प्रचलित रही है जिसका उदाहरण 1927 के महाड़ का है। अभी भी यह देश के अधिकतर हिस्सों में फैला हुआ है। अधिनियम और उसके अधीन काम कर रही मशीनरी गांवों में मौजूद पीड़ितों तक नहीं पहुंच पाते न ही वहां के हालात को निर्णायक रूप में प्रभावित कर पाते हैं।
- छुआछूत के कुछ पुरातन रूप अब देश में नहीं पाये जाते, जो कि बेहद उत्साहवर्द्धक हैं।
- छुआछूत की कुछ पुरातन रूपों को देश के कुछ हिस्सों में रूपान्तरित कर दिया गया है।
- नये बदलावों के अनुरूप छुआछूत के कुछ नव-आधुनिक रूप देश के कई हिस्सों में स्थित ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में नजर आये हैं। उदाहरण के लिए बहुत से गांवों में चल रही चाय की दुकानें इसके नवीनतम उदाहरण हैं। इसके साथ ही बैठने के लिए अलग व्यवस्था तथा एक खास वर्ग के लिए चाय पीने वाली अलग गिलासें जो पुरानी गंदी और क्रैक के साथ या कहीं-कहीं फूटी हुई हैं।
- कई महानगरीय क्षेत्रों में छुआछूत सतही तौर पर तो नजर नहीं आता लेकिन परिष्कृत अंदाज में अभी भी मौजूद है। कई आधुनिक कार्यालयों में दलितों को भद्दी टिप्पणियां तथा साफ-सुथरे अंदाज में होने वाला भेदभाव झेलना पड़ता है।

नयी हवा : उड़ीसा तथा राजस्थान में मंदिरों में प्रवेश के लिए दलितों की लामबंदी

दलितों को अपने सीमित साधनों के साथ और सरकार के सीमित एवं देर से मिलने वाले समर्थन के बावजूद अपनी राह में आने वाली बाधाओं को पार करना पड़ रहा है। जैसा कि उन्होंने उड़ीसा के केन्द्रपाड़ा जिले के केराडगदा में स्थित जगन्नाथ मंदिर तथा राजस्थान के भीलवाड़ा जिले के सुलिया में स्थित चामुंडा देवी के मंदिर में प्रवेश करने के मामले में किया। लेकिन दलित लामबंदी के इन दिलेर उदाहरणों के बावजूद अभी उन्हें सरकार के संपूर्ण एवं लगातार समर्थन की जरूरत है। उदाहरण के लिए केरादगदा में मंदिर के 300 वर्षों के इतिहास में दलितों ने पहली बार प्रवेश किया। उसके बाद 'शुद्धिकरण समारोह' के नाम पर पुजारियों तथा गांव की ऊंची जाति के लोगों ने मंदिर को बंद रखा और प्रथा के अनुसार पूजा नहीं होने दी। इसके साथ ही दलितों के सामाजिक एवं आर्थिक बहिष्कार की शुरुआत हो गयी, जो कि 2:1 के अनुपात में कम संख्या में है। बड़े पैमाने पर होने वाले एक और अत्याचार के तूफानी बादल जमा हो रहे हैं। इस तरह सरकार

के पास लामबंद स्थानीय दलितों के आगे बढ़ने के प्रयास को सतत समर्थन देकर अपनी संवैधानिक जिम्मेदारी पूरी करने के अलावा दूसरा कोई विकल्प नहीं रहा गया है। अब सरकार की सतत जिम्मेदारी के अंतर्गत जरूरत पड़ने पर बाधा डालने वालों के संविधान विरोधी नेताओं को तत्काल गिरफ्तार करना, उन्हें जल्द से जल्द अदालत में पेश करना तथा सजा दिलवाना, सामूहिक जुर्माना और दृढ़ता के साथ इसी तरह की अन्य दण्डात्मक कार्रवाइयां करना है। नेताओं को जिलाबदर करना एक समाधान हो सकता है, लेकिन यह विकल्प तब तक मौजूद नहीं हो सकता, जबतक अनुच्छेद 10 के अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति (अत्याचारों पर रोक) अधिनियम में अगले उपश्रेणी के माध्यम से संशोधन नहीं कर दिया जाता।

केन्द्र प्रायोजित कार्यक्रम और उनका इस्तेमाल

आजादी के बाद केन्द्र द्वारा प्रायोजित कार्यक्रमों में से एक था पीसीआर अधिनियम। बाद में 1990 में अनुसूचित जाति-जनजातियों के खिलाफ अत्याचार निरोधक अधिनियम भी उसमें शामिल कर दिया गया। कार्यान्वयन मशीनरी का गठन से निश्चित रूप से शुरुआती दौर में इसका फायदा हुआ, लेकिन सरकार द्वारा पीसीआर अधिनियम तथा इसके कार्यान्वयन को लेकर अपनाये गय ढुलमुल रवैये की वजह से यह कार्यक्रम छुआछूत समाप्त करने में बहुत अधिक कारगर नहीं साबित हो पाया।

अत्याचारों की शुरुआत

आजाद भारत में दलितों के लिए उनके खिलाफ होने वाला अत्याचार एक नयी समस्या बनकर सामने आया। ऐसी स्थिति में जब दलित समाज की जागरूकता में वृद्धि हो रही थी और उन्होंने आईसीएस सिद्धांत और मनोविज्ञान तथा दासता को अस्वीकार कर दिया था तब उनके खिलाफ होने वाला अत्याचार उन्हें दबाने के एक और अस्त्र के रूप में सामने आया। इससे वे पहले की ही तरह असुरक्षित बने रहे। दिसंबर, 2006 में हुई खैरलांजी की घटना इस तरह की ऐसी पहली घटना नहीं है, जिसने देश को हिलाकर रख दिया और न ही यह आखिरी घटना होगी, अगर केन्द्र और राज्य की सरकारें इसी तरह ऐसे अत्याचारों की तरफ से आंखें मूंदे रहेंगी। खैरलांजी, जैसी पहले इसी तरह की हृदयविदारक घटाएं तमिलनाडु के शमनाथपुरम दंगे (1959) ओर किलावेनलानी विध्वंस (24/25 दिसंबर, 1968) बिहार के बेलछी (25 मई, 1979) पिपरा (26/27 फरवरी, 1980) नोन्ही-नगवा (16/17 जून, 1988) दमुहा-खगीरी होली (11 अगस्त, 1988), आंध्र प्रदेश के करचंदू (17 जुलाई, 1985) और सुंदुरु (6 सितंबर, 1991) उत्तर प्रदेश के कफालता (9 मई, 1980) और पनवारी (2 जून, 1990) राजस्थान के नाथद्वारा (23 जून, 1988), कुम्हेर (6 जून 1992) तथा हरियाणा के गोहाना (13 जनवरी, 2005) में हो चुकी हैं।

अनुसूचित जाति एवं जनजाति अत्याचार निरोधक अधिनियम का आगमन

अत्याचारों पर निगाह रखने की शुरूआत 1976 में गृह मंत्रालय के अनुसूचित जाति एवं पिछड़ा वर्ग प्रकोष्ठ ने की थी। इस लगातार बढ़ती हुई बुराई का अधिक प्रभावी ढंग से सामना करने के लिए अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निरोधक) अधिनियम 1989 नाम के एक मार्ग प्रशस्त करने वाले विधेयक को पारित किया गया। यह कानून 1990 में महात्मा गांधी के शहीद दिवस यानी 30 जनवरी से प्रभावी हुआ।

इस अधिनियम के प्रभावी होने से अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की बेहतर सुरक्षा निश्चित हुई और अनुच्छेद 21 के तहत उन्हें बेहतर ढंग से जीने का अधिकार हासिल हुआ। विद्वानों तथा उन राज्यों के मुख्यमंत्रियों द्वारा तत्काल ही इसकी संभावना को पहचाना गया, जहां ऊंची या मध्य जातियों का वर्चस्व था। इसने अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के अंदर विश्वास का संचार किया और उनके खिलाफ अत्याचार में आगे रहने वालों को सतर्क कर दिया। 1990 में केन्द्र प्रायोजित पीसीआर अधिनियम कार्यान्वयन मशीनरी गठन कार्यक्रम को पीओए अधिनियम के साथ भी लागू कर दिया गया, लेकिन फिर भी दलितों पर होने वाले अत्याचार जारी रहे, क्योंकि आधारभूत विरोधाभासों, असुरक्षा तथा मूल कारणों पर प्रभावी ढंग से ध्यान नहीं दिया गया। अधिनियम में अंतर्निहित कमियों तथा इसके कार्यान्वयन के विभिन्न पहलुओं को नजरअंदाज किये जाने की वजह से अधिनियम का पूरा प्रभाव सामने नहीं आ पाया।

परंपरागत भारतीय सामाजिक आर्थिक संरचना और व्यवस्था जो आज भी बहुत हद तक कायम है, में अधिकतर अनुसूचित जातियां उस स्थिति में रहती हैं, जहां कृषि मजदूरों के रूप में तो वे बहुमत में है, लेकिन जहां तक जनसंख्या का सवाल है तो वे अल्पमत में हैं।

आधारभूत विरोधाभास, असुरक्षा और अत्याचारों के मूल कारण

परंपरागत भारतीय सामाजिक आर्थिक संरचना और व्यवस्था जो आज भी बहुत हद तक कायम है, में अधिकतर अनुसूचित जातियां उस स्थिति में रहती हैं, जहां कृषि मजदूरों के रूप में तो वे बहुमत में है, लेकिन जहां तक जनसंख्या का सवाल है तो वे अल्पमत में हैं। अपनी कम संख्या की वजह से वे लगातार असुरक्षित महसूस करते रहते हैं, क्योंकि जरूरत पड़ने पर उन्हें दूसरी जाति के मजदूरों का भी समर्थन नहीं मिलता, जो अपनी-अपनी जाति के बड़े जमीन मालिकों को ही समर्थन देते हैं। यह बात लगभग 80 प्रतिशत अनुसूचित जातियों पर लागू होती है, क्योंकि उनका अपेक्षाकृत कम शहरीकरण हुआ है। (2001 तक सिर्फ 20 प्रतिशत जो कि दूसरों के 32 प्रतिशत के मुकाबले कम है। भारतीय गांवों में जमीन मालिक अधिकतर दूसरी प्रभावशाली जातियों के हैं। इसलिए दलित कृषक मजदूरों को हमेशा ही उन लोगों पर निर्भर रहना पड़ता है, जो सदियों से उनका शोषण करते आये हैं। बेहतर मजदूरी की दलितों की मांग का भूमिपति वर्ग द्वारा अपनी जाति के अन्य लोगों के साथ मिलकर विरोध किया जाता है। शिक्षा एवं आरक्षण के सहारे जिन गिने-चुने दलितों ने अपना विकास किया है, उनके जीवनस्तर में आयी बेहतरी उनलोगों की आंखों में खटकने लगती है, जो उन्हें सदियों से दबे-कुचले दीनहीन मजदूरों के रूप में देखने के अभ्यस्त रहे हैं। अगर बिना शिक्षा और आरक्षण के भी सिर्फ अपनी जी तोड़ मेहनत से कुछ धन जमाकर वे अपने जीवन स्तर को सुधारने में सफल हो जाते हैं, तब भी प्रभावशाली तबके की आंखों में भटकने लगते हैं। अगर वे दूसरों द्वारा छीन लिये गये जायज अधिकारों को भी हासिल करने की कोशिश करते हैं, जैसा कि गोहाना के एक वकील द्वारा हड़पी गयी बाल्मिकी आश्रम की जमीन के मामले को हुआ, तो इसे विद्रोह माना जाता है और उन्हें सबक सिखाने के

अवसर का इंतजार शुरू हो जाता है। नागरिक समाज (कुछ सम्माननीय अपवादों के साथ) उनके खिलाफ विद्वेष की भावना रखती है और समानता के संवैधानिक सिद्धांत तक मानवता की भावना से प्रभावित नई शिक्षा प्रणाली भी उनकी सोच में बदलाव नहीं ला पायी है।

इन तमाम पहलुओं के अलावा दलित को इस बुरी स्थिति से निकालने में शासन की अरूचि और राष्ट्रीय एवं प्रांतीय स्तर पर जो नेतृत्व है, उसका सामाजिक एवं आर्थिक रूप से प्रभावशाली तबके पर आश्रित होना भी दलितों पर बढ़ते हुए अत्याचारों की प्रमुख वजह है।

अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निरोधक) अधिनियम की कमियां

इस अधिनियम की कमियां, जिनकी वजह से इसके फायदे दलितों तक तत्काल, प्रभावशाली ढंग से तथा पूर्ण रूप से नहीं पहुंच रहे हैं और जिन कारणों से अनुच्छेद 21 के बिना जीवन का अधिकार वास्तविक स्वरूप नहीं ग्रहण कर पाया है वे इस तरह से हैः–

अनुच्छेद 14 (2) के प्रावधान के तहत राज्य सरकार को हर जिले में एक अदालत को इस अधिनियम के तहत किये गये अपराधों की सुनवाई के लिए विशेष अदालत का दर्जा देना होता है। यह प्रावधान ही जल्द से जल्द न्याय दिलवाने के उद्देश्य के विपरीत है, क्योंकि सिर्फ पहले से ही काम के बोझ से लदी किसी अदालत को विशेष अदालत का दर्जा भर देने से मामले जल्दी नहीं निपटने लगेंगे। होना तो यह चाहिए था और ऐसा अब भी हो सकता है कि एक ऐसी विशेष अदालत का गठन होता, जो सिर्फ इस अधिनियम के तहत आने वाले अपराधों की दैनिक सुनवाई करता और दूसरे मामलों की सुनवाई बिल्कुल भी नहीं करता जो कि अभी मौजूद अदालतों के साथ नहीं है और इसके लिए अलग से विशेष सरकारी वकील एवं विशेष जांच अधिकारी की नियुक्ति की जाती। ऐसा नहीं है कि ये कमियां अनजाने में आ गयी हैं, क्योंकि संबंधित लोगों के सामने तमाम विकल्प थे। लेकिन उन्होंने उनपर ध्यान देने से इनकार कर दिया। इस अधिनियम का अनुच्छेद 3 अत्याचार से संबंधित अपराधों में सामाजिक एवं आर्थिक बहिष्कार तथा सामाजिक एवं आर्थिक ब्लैकमेल को जगह नहीं दी गयी है, जबकि दलित जन भी अपनी कोई जायज मांग रखते हैं या अन्याय का प्रतिकार करते हैं, या फिर अपने अधिकारों पर दावा करते हैं। उन्हें इस तरह के बहिष्कारों या धमकियों का सामना करना पड़ता है। इस अधिनियम के अनुच्छेद 3 (2) के तहत अगर अदालत जरूरी समझे तो भी हत्या के लिए मृत्युदंड का प्रावधान नहीं है। अनुच्छेद 10 के तहत उन दलितों को संरक्षण नहीं दिया गया है, जो अत्याचारों के मुख्य शिकार होते हैं। (80 प्रतिशत से अधिक अत्याचार दलितों के खिलाफ होते हैं) लूटपाट और गंभीर रूप से घायल होने के लगभग 90 प्रतिशत मामले अनुसूचित जातियों के साथ होते हैं। हालांकि दलित ईसाई अपने धर्म की वजह से नहीं, बल्कि ठीक उन्हीं कारणों से अत्याचारों के शिकार होते हैं, जो कारण हिन्दू दलितों के साथ होते हैं। फिर भी दलित ईसाइयों के मामलों को इस अधिनियम के अंतर्गत जगह नहीं दी गयी है। अनेक कारणों में से यह भी एक कारण है, जिसकी वजह से 6 अगस्त, 1991 के सुन्दुरु मामले में एक दशक से अधिक समय तक सुनवाई शुरू ही नहीं हो पायी।

पीओए एक्ट-1 अत्याचार निरोधक अधिनियम का ढीला-ढाला कार्यान्वयन

एक तरफ शासन ने इस कानून की कमियां छोड़ दी हैं, वहीं दूसरी तरफ यह कानून जैसा भी है उसे भी प्रभावशाली ढंग से कार्यान्वित करवाने में शासन असफल रहा है। 1991 के सुन्दुरु नरसंहार मामले में सुनवाई अभी पूरी नहीं हो पायी है, जबकि 1992 में कुम्हेर में हुए संहार के मामले में तो अभी तक सुनवाई शुरू भी नहीं हुई है। अधिकतर मामले लंबे समय तक खिंचते चले जाते हैं, बड़ी संख्या में आरोपी बरी हो जाते हैं और कुछ को ही सजा हो पाती है, जिससे अत्याचारों को एक तरह का आमंत्रण मिलता है, क्योंकि विध्वंसक तत्वों को लगता है कि यहां खतरा कम है। इस अधिनियम की दुर्बलता शुरूआत से ही उजागर होने लगती है, तब मामले या तो दर्ज ही नहीं होते हैं और अगर होते भी हैं तो देर से। मामले को पीओए एक्ट के तहत दायर करने की बजाय भारतीय दंड संहिता के तहत दर्ज कर दिया जाता है। प्रथम सूचना रिपोर्ट कमजोर या तथ्यों को तोड़ मरोड़कर तैयार की जाती है और ऊंची जातियों के प्रभावशाली आरोपियों के नाम रिपोर्ट में दर्ज नहीं किये जाते। धीमा, लापरवाह तथा विद्वेषी जांच, आरोपियों या मुख्य आरोपी की गिरफ्तारी नहीं हो पाना मामले को कमजोर कर देता है।

एक तरफ शासन ने इस कानून की कमियां छोड़ दी हैं, वहीं दूसरी तरफ यह कानून जैसा भी है उसे भी प्रभावशाली ढंग से कार्यान्वित करवाने में शासन असफल रहा है।

जितने मामले दर्ज होते हैं उनमें से 50 से 60 फीसदी में ही अदालतों में चार्जशीट दाखिल किये गये मामलो में सुनवाई पूरा हो पायी। जिन मामलों की सुनवाई पूरी हो गयी, उनमें से 11 से 13 फीसदी में ही आरोपियों को सजा हो पायी और 88 से 89 फीसदी तक आरोपी छूट गये। नये मामले के दर्ज होने के आंकड़े भी बड़े भ्रामक हैं। इस सिलसिले में उदाहरण उत्तर प्रदेश का लिया जा सकता है, जहां दर्ज होने वाले मामलों में एकाएक बड़ी तेजी से कमी आने लगी। यहां 2001 में 9,764 मामले, 2002 में 5,841 और 2003 में सिर्फ 1,778 मामले दर्ज हुए। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि हालांकि इस कानून से कुछ क्षेत्रों में दलितों में कुछ सुरक्षा की भावना आयी है, लेकिन इसकी कमियों, धीमी रफ्तार और बड़ी संख्या में आरोपियों के बच निकलने के कारण यह न तो अपेक्षित प्रभाव छोड़ पाया है और न ही अपने उद्देश्य को पूरा कर पाया है।

अत्याचारों के खिलाफ दलितों की स्वतः स्फूरित लामबंदी : अभी हाल ही में खैरलांजी में हुए अत्याचार की खबर आते ही पूरे महाराष्ट्र के दलित तत्काल ही विरोध के लिए लामबंद हो गये, जिसे उसी समय कानपुर में बाबासाहेब डॉ. अंबेडकर की प्रतिमा के अपमान ने और अधिक भड़का दिया। इन विरोध प्रदर्शनों ने सरकार को कार्रवाई करने के लिए एक तरह से मजबूर कर दिया, जो कुछ समय तक नक्सली हरकत और साजिश घोषित कर मामले को दबाना चाहती थी। इस घटना ने जहां अत्याचार हो वहां दलितों एवं शुभचिंतकों की लामबंदी के महत्व को समझा दिया। ऐसी लामबंदी शांतिपूर्ण तथा अहिंसक होनी चाहिए।

दलितों का योजनाबद्ध विकास : केन्द्र प्रायोजित कार्यक्रम - उनका इस्तेमाल और सीमाएं

आजादी के बाद एक और महत्वपूर्ण मुद्रा अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के योजनाबद्ध विकास के लिए पर्याप्त विधिकरण का रहा है। वर्ष 1951 में जब योजना का दौर शुरू हुआ (पहली पंचवर्षीय योजना) बाबासाहेब डॉ. अंबेडकर द्वारा पूर्व में शुरू किये गये कार्यक्रमों का केन्द्र प्रायोजित कार्यक्रमों का रूप दिया गया। अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लिए बनाये गये केन्द्र प्रायोजित कार्यक्रमों की सूची नीचे दी जा रही है।

(ए) अनुसूचित जातियों के लिए केन्द्र प्रायोजित कार्यक्रम

अनुसूचित जातियों/जनजातियों के लिए संयुक्त रूप से–

1. एससी/एसटी के लिए मैट्रिक के बाद छात्रवृत्ति।
2. स्वयंसेवी संगठनों को सत्यता
3. एससी/एसटी छात्राओं के लिए बालिका होस्टल
4. प्रशिक्षण एवं संबंधित कार्यक्रम
5. पीसीआर एक्ट के कार्यान्वयन के लिए मशीनरी (1980 में इसमें अत्याचार निरोधक अधियम को भी जोड़ दिया गया)
6. ऐसे बच्चे, जो गंदगी साफ करने के काम में लगे हों। उनके लिए मैट्रिक से पहले छात्रवृत्ति।
7. एससी/एसटी के मेडिकल एवं इंजीनियरिंग छात्रों के लिए पुस्तक बैंक योजना।
8. राज्यों के अनुसूचित जाति वित्तीय एवं विकास निगमों की शेयर पूंजी में निवेश के लिए की जाने वाली केन्द्रीय सहायता।
9. सफाई कर्मचारियों एवं उनके परिवारों की मुक्ति तथा पुनर्वास।
10. अनुसंधान एवं प्रशिक्षण।
11. एससी/एसटी छात्र की मेधा में सुधार।
12. अंबेडकर न्यास
13. एससी/एसटी के एमफिल एवं पीएच डी छात्रों के लिए राजीव गांधी राष्ट्रीय शिक्षावृत्ति

(बी) गैर-योजना

एसीसी/एसटी के लिए विदेशी छात्रवृति योजना।

नोट : 1999 के बाद एससी एवं एसटी की अधिकतर योजनाएं अलग-अलग की जा चुकी हैं।

(सी) अनुसूचित जनजातियों के लिए केन्द्र प्रायोजित योजनाएं

1. जनजातीय क्षेत्रों में व्यावसायिक प्रशिक्षण
2. जनजातीय क्षेत्रों में महिला साक्षरता के विकास के लिए निम्न साक्षर पॉकेट में शैक्षणिक कॉम्प्लेक्स
3. ट्राइफेड को निवेश/मूल्य समर्थन
4. लघु वन उत्पाद के लिए राज्य जनजातीय विकास सहकारी निगमों को वित्तीय सहायता
5. प्राथमिक जनजातीय समूहों का विकास
6. आदिवासी भवनों का निर्माण
7. जनजातीय संस्कृति को बढ़ावा
8. एसटी छात्रों के लिए राजीव गांधी राष्ट्रीय शिक्षावृत्ति
9. जनजातीय उपयोजना क्षेत्र में आश्रम विद्यालयों की स्थापना
10. शोध सूचना एवं सामूहिक शिक्षा, जनजातीय त्यौहार एवं अन्य
11. सूचना तकनीकी

केन्द्र प्रायोजित कार्यक्रमों की अपनी उपयोगिता है और उनका योगदान और प्रभाव अलग-अलग समय पर विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न रहता है। लेकिन उनका उद्देश्य सभी योजना स्रोतों तथा दलितों के लिए नियोजित लोगों को एक साथ लाना नहीं था। ऐसा विचार था कि दलितों से संबंधित महत्वपूर्ण विकासात्मक जरूरतों को क्षेत्रवार योजना के साथ पूरा किया जाए और उनके लिए जरूरी योजना स्रोतों के मुख्य हिस्से की भरपाई की जाये। दलितों के विकास के लिए बनायी गयी विशेष योजनाओं से क्षेत्रवार योजना के प्रति उत्प्रेरक और अनुपूरक होने की उम्मीद की गयी थी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। न तो योजना आयोग ने न ही क्षेत्रीय मंत्रालयों/विभागों ने दलितों के लिए विशेष प्रयास किए या योजनाएं बनायीं।

अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए विशेष अंगीभूत योजनाओं आविर्भाव–

खामियों को दूर करने के लिए 1970 के दशक के अंत में दो नवीन योजनाएं तैयार की गयी हैं। जिनका नाम विशेष अंगीभूत योजना (स्पेशल कम्पोनेन्ट प्लान) और जनजातीय उप-योजना (टीएसपी) था। इनका उद्देश्य हर क्षेत्र से योजनाओं को श्रृंखलाबद्ध करना तथा योजना स्रोतों को अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के अनुरूप बनाना था। जनसंख्या के अनुपात से योजना विन्यास और अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के विकास के स्रोतों को ढ़ालने के ये दो मुख्य साधन थे। विशेष केन्द्रीय सहायता (एससीए) और राज्यों की विशेष अंगीभूत योजनाओं (एससीपी) को पेश कर इस प्रयास को और अधिक कारगर बना दिया गया। इन उपायों को तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के 12 मार्च, 1980 को लिखे गये दो ऐतिहासिक पत्रों से और अधिक मजबूती मिली। तमाम मुख्यमंत्रियों/राज्यपालों तथा केन्द्रीय मंत्रियों को लिखे गये इन पत्रों में अनुसूचित जातियों की दशा का स्पष्ट वर्णन था और उनके लिए विशेष अंगीभूत योजना के महत्व तथा उद्देश्यों पर जोर दिया गया था। राज्यों की जनजातीय उप-योजनाओं को अलग से विशेष केन्द्रीय सहायता दी गयी थी। इन दोनों अंगीभूत योजनाओं के सहारे दलितों के लिए अधिक योजना स्रोतों को श्रृंखलाबद्ध करने में सफलता मिली, लेकिन शुरुआती उत्साहवर्द्धक वर्षों के बाद शिथिलता आती गयी और अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की जरूरतों के मुताबिक उनमें बदलाव नहीं किये गये। वर्ष 1978 में जब एससीपी के बारे में सोचा गया था तब क्षेत्रीय आवंटन से पहले कुल योजना स्रोतों को जनसंख्या के अनुपात में आवंटित करने का फैसला किया गया था और वर्ष 1983 में जब योजना के लिए शुरुआती विचार-विमर्श शुरू हुआ तब इसे औपचारिक रूप से स्पष्ट किया गया। वर्ष 1990 में कल्याण मंत्रालय के प्रस्ताव पर तबके चेयरमैन ने एससीपी और टीएसपी के 15 प्रतिशत और 7.5 प्रतिशत को तय करने का निर्देश दिया था, लेकिन सरकार बदलने के साथ ही इसे कूड़ेदान में डाल दिया गया। इसे दलित घोषणा पत्र तथा दूसरे कागजातों में जगह दी गई। यह विचार जो कि दलितों के संपूर्ण एवं व्यापक विकास के लिए जरूरी है अभी भी कार्यरूप दिये जाने की राह देख रहा है।

अनुसूचित जाति एंव अनुसूचित जनजाति निगमों का उदय

आबादी का एक बड़ा हिस्सा जो संपत्ति रहित है और जिसे अपनी संपत्ति अर्जित करने तथा आय बढ़ाने के लिए वित्तीय सहायता की जरूरत है, बैंक और वित्तीय संस्थाएं उन्हें कर्ज देने से मुंह चुराती रही हैं। इस समस्या से निपटने के लिए दलितों के लिए विकासात्मक वित्तीय संस्थाओं का विचार सामने आया। इसके तहत पंजाब, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक जैसे राज्यों में अनुसूचित जाति वित्त एवं विकास निगमों (एससीडीसी) की स्थापना की गयी। इन निगमों को अपनी गतिविधियां बढ़ाने में सहायता देने तथा दूसरे राज्यों को ऐसे ही निगमों की स्थापना के लिए प्रेरित करने के उद्देश्य से सन् 1978 में एक केन्द्र प्रायोजित योजना शुरू की गयी। इस योजना के तहत राज्य सरकारों को अपने-अपने एससीडीसी में निवेश करने के लिए केन्द्रीय सहायता दी गयी। यह पहली केन्द्र प्रायोजित योजना थी, जिसमें आर्थिक अंश था। तत्पश्चात राष्ट्रीय अनुसूचित कर्मचारी निगमों की स्थापना की गयी। इन राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक संस्थानों ने कुछ हद तक दलितों के बीच स्व-रोजगार एवं व्यावसायिक गतिविधियों को बढ़ावा देने में सहायता की।

अनुच्छेद 275 (1) के उपबंध

अनुसूचित जनजातियों के मामले में विकास की एक और व्यवस्था अनुच्छेद 275 (1) के उपबंधों द्वारा अनुसूचित जनजातियों के लिए कल्याण योजनाओं तथा जनजातीय क्षेत्रों में प्रशासन के स्तर को बढ़ाने की योजनाओं के माध्यम से की गयी है।

कुल मिलाकर कुछ उपलब्धियां और समग्र असफलता क्यों

इसमें कोई शक नहीं कि विभिन्न योजनाओं, विकास तंत्र और कानूनों की वजह से दलितों की स्थिति बेहतर हुई है, जिसे सरकारी एवं सार्वजनिक क्षेत्र के सभी दफ्तरों तथा सभी संस्थानों में देखा जा सकता है। दलितों को ऐसे स्थानों में प्रवेश मिल रहा है, जहां आजादी से पहले वे कभी नहीं या शायद ही कभी देखे जाते थे। लेकिन ये सभी उपलब्धियां जितनी जरूरी थी उससे बहुत कम है, और अभी भी भारतीय समाज में भारी बदलाव की जरूरत है, ताकि दलितों को उनका सही स्थान मिल सके। ऐसा किया जाना संभव था, लेकिन हो नहीं पाया है। इतने पास फिर भी कितने दूर? इसकी वजह भारतीय समाज और मुख्य राजनीतिक दलों का नेतृत्व है। आजादी के पहले की पीढ़ी के गुजर जाने के बाद जिसके पास संविधान द्वारा जरूरी बताए गये समतावादी भारत की दृष्टि का नितांत अभाव है। विशेष रूप से यह दृष्टि दलितों की आर्थिक आजादी, हर स्तर और क्षेत्र में शैक्षणिक बराबरी और सामाजिक एवं व्यक्तिगत सम्मान के लिए जरूरी थी, लेकिन इसका पूरी तरह से अभाव था। इसका परिणाम यह हुआ कि भूमिहीन दलितों की दृष्टि से भूमि सुधार बेकार साबित हुआ और हर स्तर तथा क्षेत्र में बड़े पैमाने दलित शिक्षा से वंचित रहे।

आजादी के बाद की कमजोरियों एवं कमियों को भारतीय समाज की दो कमजोरियों में तलाशा जा सकता है, जिनकी पहचान डॉ. अंबेडकर ने 25 नवंबर, 1949 में ही कर दी थी। ये दो कमजोरियां हैं समानता का पूरी तरह से अभाव तथा भाईचारे के सिद्धांत की पहचान में कमी। जबकि दलितों में विशेष रूप से युवा पीढ़ी में अपनी बदहाली तथा उसके कारणों के प्रति जागरूकता पैदा हो रही थी और अपने लगातार शोषण और दमन के खिलाफ नाराजगी भी बढ़ रही थी, लेकिन समाज के विकसित वर्गों में आजादी की लड़ाई के वक्त जो नैतिक संवेदना थी, वह पूरी तरह से खत्म हो गयी। विशेष रूप से युवा पीढ़ी में। जिन वर्गों के लोग अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों के शोषण एवं उनकी प्रताड़ना के लिए जिम्मेदार थे। राजनीतिक दलों तथा भारत सरकार में उनका ही प्रवेश हो गया जिससे वे और अधिक सत्तासंपन्न और प्रभावशाली हो गये। हर गुजरतें हुए वर्ष के साथ देश की नीतियों पर उनकी छाया गहराती गयी। राजनीतिक नेतृत्व द्वारा ऐसे तत्वों को अपने से दूर रखने दलितों की पीड़ा दूर करने तथा उनकी उम्मीदों को पूरा करने में व्यावहारिक सहयोग देने में नाकाम रहने की वजह से दलितों के बीच अलग-थलग पड़ जाने की भावना लगातार बढ़ती रही। इस प्रक्रिया और इसके परिणामस्वरूप भारत की राज्य व्यवस्था में जो कमजोरी आयी है उसे आसानी से दूर नहीं किया जा सकता।

संवैधानिक दृष्टि और समतावादी एकीकृत भारत का अंबेडकर का सपना पूरा नहीं हो पाया है।

दलितों की वर्तमान हालात के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण ध्यान देने वाली बात यह है कि उनकी शिक्षित मध्यम वर्ग के साथ होने वाली तुलना की चिंता है। उनमें अपनी कई ने अच्छी-खासी सफलता पाई है और वे विभिन्न क्षेत्रों और व्यवसायों में न केवल देश, बल्कि दूसरे देशों में भी अपनी पहचान बना पाने में सफल हुए हैं।

दलितों के हालात : जारी है नुकसान और असुविधाएं

भारत की जनगणना 2001 के मुताबिक वर्तमान में अनुसूचित जाति (एससी) की जनसंख्या 16,66,35,700 है, जो देश की कुल जनसंख्या की 16.20 फीसदी है। भारत की जनसंख्या 102,86,10,328 है। इसी तरह से अनुसूचित जनजाति (एसटी) की जनसंख्या 8,43,26,240 अर्थात् 8.2 फीसदी है।

दलितों में आजादी से पहले जैसी ही अभाव, असुविधाएं, असफलताएं, कमजोरी और संघर्ष बना हुआ है। जिससे उसके हालात के अस्तित्व की रूपरेखा खींचती हैं।

मध्यम श्रेणी के निम्न दिखने वाले दलितों का उदय

दलितों की वर्तमान हालात के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण ध्यान देने वाली बात यह है कि उनकी शिक्षित मध्यम वर्ग के साथ होने वाली तुलना की चिंता है। उनमें अपनी कई ने अच्छी-खासी सफलता पाई है और वे विभिन्न क्षेत्रों और व्यवसायों में न केवल देश, बल्कि दूसरे देशों में भी अपनी पहचान बना पाने में सफल हुए हैं। उन्होंने अपनी दक्षता और कार्यक्षमता का बेहतर प्रदर्शन किया है। यदि उनकी राह में आने वाली सभी बाधाएं दूर हो जाएं, तब वे दलित समुदाय के क्षमता और प्रतिभा के अहसास आधार पर निश्चित तौर पर शिक्षा के क्षेत्र में ऊंचाई पर पहुंच सकते हैं। वैसे वे साहित्य और कला के कई क्षेत्रों में अपनी पहचान बना चुके हैं। फिर भी यह वर्ग बाबा साहब डॉ. अंबेडकर द्वारा आजादी से पहले और भारत के संविधान में नीतियों के जरिए उसके अस्तित्व को महत्व देने के बावजूद उसकी स्थिति राज्यों में पतन की ओर है। साथ ही पिछले डेढ़ दशक के दरम्यान प्राइवेट सेक्टर के हर

क्षेत्र में प्रवेश के कारण दलित वर्ग अस्वीकृत हो चुका है, तथा उसके लिए रोजगार के अवसर में काफी कमी आ गई है। सरकारी नौकरियों के अलावा दूसरे क्षेत्रों में काफी कम मौके की गुंजाइश रह गई है।

खेतिहर मजदूर पर दबाव

दलितों की एक बड़ी आबादी आज भी आर्थिक स्थिति के मामले में पहले जैसी स्थिति में है। इसका सबसे बड़ा वर्ग अपनी जीविका खेतों में मजदूरी कर चलाता है। दुर्भाग्यवश आजादी मिले और संविधान के तहत प्रावधानों के बावजूद उनकी दशा सदियों से पहले जैसी ही बनी हुई है। विभिन्न जनगणनाओं में अनुसूचित जाति की आधी आबादी के करीब खेतिहर मजदूर हैं।

वर्ष 1981 की जनगणना के मुताबिक एससी के 48.22 फीसदी खेतिहर मजदूर थे, जबकि 1991 की जनगणना के मुताबिक इनकी आबादी 49.06 फीसदी थी। इसी तरह से 1971 की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जाति के पुरुष खेतिहर मजदूर 50 फीसदी थे, जबकि उनकी संख्या 1981 में 47 फीसदी और 1991 में 48.86 फीसदी थी। सामान्य ग्रामीण की आबादी 1971 में 34.63 फीसदी, 1981 में 34.63 फीसदी और 1991 में 34.58 फीसदी थे, जो खेतिहर मजदूरों में भी शामिल थे। जबकि ग्रामीण आबादी का प्रतिशत दुगुना था। इसी संदर्भ में खेती करने वालों के किए गए जनगणना वर्ग के मुताबिक 1981 में उनका प्रतिशत 28.20 था, तो उसमें 1991 में घटकर उनका प्रतिशत 25.44 हो गया। इन आंकड़ों को दूसरे स्रोतों से भी समर्थन मिला है। इनमें नेशनल सैम्पल सर्वे आर्गेनाइजेशन (एनएसएसओ) को 55वां और 61वां सर्वेक्षण किया गया है, जो क्रमशः 1999-2000 और 2004-2005 के दरम्यान किए गए। पहले के आंकड़ों की अधिक छानबीन और स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। 1999-2000 के दरम्यान 55वें चक्र के आंकड़े से दलितों की आर्थिक स्थिति के बारे में सर्वाधिक शोषण, असुविधाएं और क्षति का पता चलता है। इसी में उच्च वर्ग की जातियों और उसके बीच की बड़ी खाई का भी पता चलता है।

एनएसएसओ (1990-2000) के तथ्य

	एससी	*एसटी*	*ओबीसी*	*अन्य (सवर्ण)*	*सभी*
खेतिहर मजदूर	51.4	39.7	29.2	19.0	32.2
अन्य मजदूर	10.0	08.9	07.9	06.3	08.0
कुल मजदूर	**61.4**	**48.5**	**37.1**	**25.3**	**40.2**

इसके अनुरूप ही शहरी मजदूर भी पेशेगत असुविधाओं से त्रस्त हैं। एनएसएसओ (1999-2000) के अनुसार एससी मजदूर 26.5 फीसदी, एसटी 25.6 फीसदी जबकि सामान्य वर्ग के सबसे कम मात्र 7.4 फीसदी पाए गए हैं। यह विरोधात्मक फर्क चकित करता है। हालांकि सवर्णों के लिए यह आंकड़ा उनकी तुलना में ज्यादा है, जो खेतीहर और दूसरे तरह के मजदूरी करते हैं। वैसे सवर्ण जाति के आंकड़ों में पिछड़ी जाति के आंकड़े शामिल हैं। एनएसएसओ के 2004-2005 के सर्वेक्षण में पिछड़ी जातियों के प्रतिशत और उनके खेतिहर एवं दूसरे काम के मजदूरों की छानबीन से पहले सर्वेक्षण की त्रुटियां दूर कर ली गईं।

बंधुआ दलित मजदूर

नेशनल कमीशन की ग्रामीण मजदूरों के संबंध में 1991 की रिपोर्ट बताती है कि एससी के सर्वाधिक मजदूर 61.5 फीसदी बंधुआ हैं। वे सवर्णों के लिए काम करते रहते हैं। इसके अलावा 25.1 फीसदी एसटी के हैं तथा बाकी सामान्य पिछड़े और मुस्लिम एवं दूसरे अल्पसंख्यक समुदाय के पिछड़े मजदूर बंधुआ हैं।

भूमि के मालिकाने हक की निम्न हिस्सेदारी

भूमि के मालिकाने हक की निम्न हिस्सेदारी खेती के जमीनों के संदर्भ में उस पर अधिकार को लेकर असमर्थता की है। 1981 की जनगणना के अनुसार उसके खेती के वर्ग में काफी कम अंश 28.20 फीसदी की रही है, जो 1991 में घटकर 25.44 फीसदी हो गई। एनएसएसओ के सर्वेक्षण के अनुसार खेतिहर मजदूरों के स्वरोजगार जनगणना के खेती वर्ग के सदृश ही रहा है। 1999-2000 में एससी 16.4 फीसदी थी, जबकि दूसरे जाति का प्रतिशत 41.5 है। इसमें पिछड़े समुदाय के लोग भी शामिल हैं।

ग्रामीण स्व-रोजगार (प्रतिशत में)

	एससी	*एसटी*	*ओबीसी*	*अन्य*	*सभी*
खेती	16.4	36.2	34.7	41.1	32.7

विभिन्न वर्गों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले जमीन के टुकड़ों के बारे में भी एनएसएसओ ने विश्लेषण किया है। उसके मुताबिक उच्च वर्ग के पास कम-से-कम जमीन .01 से 0.40 हेक्टेयर है। जबकि अधिक से अधिक 2.01 से 4.0 हेक्टेयर या उससे भी ज्यादा है। दूसरी तरफ एससी की सामान्य जमीन पर औसतन स्वामित्व 0.36 हेक्टेयर है, तो खेती के लायक जमीनों पर कब्जा मात्र 1.02 हेक्टेयर का है।

आमदनी का निम्नस्तर

मंथली पर कैपिटल एक्सपेंडिचर (एमपीसीई) के मामले में एससी और एसटी का अनुपात उच्चवर्ग के अनुपात से बहुत ज्यादा है। जिसे एनएसएसओ की निम्नलिखित तालिका से समझा जा सकता है।

प्रति व्यक्ति मासिक व्यय

	रुपए में	*एससी*	*एसटी*	*ओबीसी*	*अन्य*	*सभी*
ग्रामीण	225 से कम	10.8	17.1	6.6	4.2	7.9
	950 से अधिक	1.3	1.2	2.8	6.4	3.4
ग्रामीण	300 से कम	12.9	15.6	9.1	4.8	7.7
	1925 या अधिक	0.8	3.4	1.5	5.6	3.5

यह विभेद प्रत्येक वर्ग के मासिक खर्च के औसत को दर्शाता है, जिसमें एससी और एसटी ग्रामीण इलाके में निम्न स्तर पर है और उच्च वर्ग उच्च स्तर पर। पिछड़ा वर्ग इनके बीच में है, लेकिन वह एससी और एसटी के काफी करीब है। निम्नलिखित तालिका उनकी स्थिति को स्पष्ट करता है।

प्रत्येक सामाजिक वर्ग के लिए
प्रति व्यक्ति मासिक व्यय

	एससी	*एसटी*	*ओबीसी*	*अन्य*	*सभी*
ग्रामीण	419	389	474	577	486
शहरी	609	691	735	1005	855

दलितों की निराशाजनक आर्थिक स्थिति : दसवीं योजना का मूल निर्धारण

अनुसूचित जाति की आर्थिक स्थिति के मामले में दसवीं योजना के दस्तावेज में कहा गया है कि सभी तरह के असुविधा प्राप्त वर्गों में एससी सबसे अधिक पिछड़ा हुआ हैं। वे सामाजिक असमर्थता की तरह ही आर्थिक वंचना से भी ग्रसित हैं। एससी का आर्थिक पिछड़ापन पहले भी चर्चा का विषय रहा है। जो अभी भी जारी है। ग्रामीण इलाके में 36.3 फीसदी और शहरों में 38.5 फीसदी एससी गरीबी रेखा से नीचे रह रहे हैं। जबकि योजना आयोग के द्वारा किए गए 1999-2000 के आकलन के मुताबिक कुल आबादी का 27.1 फीसदी ग्रामीण और 23.6 फीसदी शहरी इलाके में लोग गरीबी रेखा से नीचे रहते हैं। इसका कारण यह है कि एससी समुदाय अभी भी अपने घिसे-पिटे पेशे से ही जुड़ा है, जिसमें बदलाव और विकास के नजरिए से पेशा बदलने या आगे बढ़ने की संभावना नहीं बन पाई है। इसके साथ ही एससी के आर्थिक पिछड़ेपन की तुलना दूसरे से होती है तब एक निराशाजनक स्थिति ही सामने आती है। क्योंकि वे अपनी जीविका के लिए न तो कार्य सतत बना पाए हैं, और न ही निम्नतम जीवन-निर्वाह के लायक ही हैं। उनके अपनाए गए पेशों में दासता के तहत सफाई करना, चमड़े उतारना, चर्म शोधना आदि हैं। एक ओर जबकि देश की आर्थिक तस्वीर में बदलाव, विकास और बढ़ोतरी दिख रही है, वहीं दूसरी तरफ एससी समुदाय की दशा जस की तस है। उनमें कोई बड़ा बदलाव नहीं आया है। जब उनकी तुलना सामान्य आबादी से की जाती है, तब उनकी गरीबी का अनुपात स्पष्ट रूप से सामने आ जाता है।

अंततः जब तक एससी के पेशे में आर्थिक तौर पर कोई बदलाव नहीं आता, तब तक उनके द्वारा की जाने वाली उत्पादकता के क्षेत्र में भागीदारी से मिलने वाली आर्थिक स्थिति की नकारात्मकता बनी रहेगी। साथ ही एससी और कुल आबादी के बीच की खाई और चौड़ी होती चली जाएगी एवं भ्रष्टता का चक्र चलता रहेगा।

इस बारे में योजना आयोग का मूल्यांकन हालांकि मौटेतौर पर स्वाभाविक है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में खेती की जमीनें करीब आधी हैं, जबकि बुनियादी खेती के क्षेत्रों में तीन चौथाई। शहरी क्षेत्रों में एक चौथाई से अधिक अनियमित मजदूर हैं। बाकी मछली मारने और वैसे असंगठित पारंपरिक 'उद्योगों' में लगे हैं, जिसमें उन्हें कई तरह की असुविधाओं और मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले एससी के अधिकतर प्रतिशत का आकलन योजना आयोग द्वारा अवश्य किया जाना चाहिए। योजना आयोग का कहना है कि एससी अपने निम्न पेशे से ही मिलने वाले जीविका के नतीजे पर बने हुए हैं तथा उनकी अपनी पसंद के पेशे पर 'निर्भरता' बनी हुई है। जब तक वर्षों से चला आ रहा शोषण, उपेक्षा और असुविधाओं की पहचान नहीं हो पाती, तब तक देश के लिए योजनाओं की प्रक्रियाएं चतुराई से टाली जाती रहेंगी।

दलित साक्षरता : बढ़ने के बावजूद बना है अंतर और पिछड़ापन

इसमें कोई संदेह नहीं है कि एससी और एसटी में पहले की अपेक्षा साक्षारता में सुधार हुआ है। फिर भी एससी और दूसरी जातियों की तुलना में साक्षरता के संदर्भ में अंतर पहले जैसा ही बना हुआ है। जबकि एसटी की साक्षरता दर का अंतर अन्य की तुलना में बढ़ गया है। जिसे निम्न दिए गए तालिका से समझा जा सकता है:-

साक्षरता दर (प्रतिशत में)

क्रम	*वर्ग*	*1971*	*1981*	*1991*
1.	सभी वर्ग	29.45	36.23	52.21
2.	एससी	14.67	21.38	37.41
3.	एसटी	11.30	16.30	29.60
4.	एस.टी. और अन्य का अंतर	14.78	14.85	14.80
5.	एस.टी. और अन्य का अंतर	18.15	19.88	22.61

सभी वर्गों में महिला साक्षरता दर सामान्य साक्षरता दर से कम है। इस अंतर को नीचे दिए गए तालिका में दर्शाया गया है।

महिला साक्षरता दर (प्रतिशत में)

क्रम	*वर्ग*	*1971*	*1981*	*1991*
1.	सभी वर्ग	21.97	29.85	39.20
2.	एससी	6.4	10.39	23.76
3.	एसटी	4.85	8.04	18.19
4.	एस.सी. और अन्य का अंतर	15.53	18.92	15.53
5.	एस.टी. और अन्य का अंतर	17.12	21.81	21.10

अशिक्षित परिवार : सर्वाधिक दलित

एससी और एसटी परिवारों के शैक्षिक स्तर की जनगणना की पुष्टि एनएसएसओ के जरिए भी हुई है कि अधिकतर परिवार में 15 वर्ष और उससे अधिक उम्र के सदस्य शिक्षित नहीं हैं। इसे दर्शाने वाली तालिका इस प्रकार है–

परिवार के अशिक्षित वयस्क (प्रतिशत में)–1999-2000

	एससी	एसटी	ओबीसी	अन्य (उच्च जातियां)
ग्रामीण	41.3	47.6	32.0	19.8
शहरी	23.7	23.1	14.0	06.5

शहरी क्षेत्रों में उच्च वर्गों के परिवारों में साक्षरता का दर तेजी से बढ़ा है। इसमें पिछड़े वर्ग भी शामिल हैं। एनएसएसओ द्वारा प्रत्येक वर्ग को 15 वर्ष और उससे अधिक आयु वर्ग के लोगों की साक्षरता के बारे में भी जानकारियां जुटाई गई हैं। उनके द्वारा एक वर्ष और 10 से 13 वर्ष के दरम्यान सामान्य शिक्षा की स्थिति का आकलन किया गया है। उसमें ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के स्त्री एवं पुरुषों को अलग से वर्गीकृत किया गया है। इसके अनुसार एससी और एसटी के मामले में प्रतिकूल परिस्थिति को दर्शाया गया है, जबकि उच्च वर्ग और पिछड़े वर्ग के लिए

अनुकूल स्थिति बताई गई है। इसके सापेक्ष में शहरों में रहने वाले सामान्य वर्ग के पुरुष तरक्की पर हैं तथा आर्थिक तौर पर भी आगे है। इसे निम्न तालिका से समझा जा सकता है।

सामान्य शिक्षा (15 वर्ष और अधिक)
सामाजिक वर्ग का प्रतिशत : वर्ष 1999-2000

		एससी	*एसटी*	*ओबीसी*	*अन्य*	*सभी*
ग्रामीण पुरुष	सिर्फ एक वर्ष	47.5	52.3	37.4	24.0	36.9
	10-13 वर्ष	2.0	1.5	2.4	5.9	3.3
ग्रामीण महिला	सिर्फ एक वर्ष	75.5	77.1	67.5	50.6	64.8
	10-13 वर्ष	0.4	0.3	0.7	1.7	0.9
शहरी पुरुष	सिर्फ एक वर्ष	26.3	23.3	17.9	8.9	14.6
	10-13 वर्ष	6.3	11.3	8.9	22.6	15.6
शहरी महिला	सिर्फ एक वर्ष	52.1	45.5	38.3	21.6	31.8
	10-13 वर्ष	2.7	6.4	4.5	15.7	10.1

सामान्य शिक्षा का वर्ष
15 वर्ष उससे अधिक सामाजिक समूह का प्रतिशत
वर्ष 2004-2005

		एससी	*एसटी*	*ओबीसी*	*अन्य (उच्च जातियां)*	*सभी*
ग्रामीण पुरुष	सिर्फ एक वर्ष	35.5	39.7	28.2	20.0	28.8
	10-13 वर्ष	4.8	3.4	6.9	12.0	7.3
ग्रामीण महिला	सिर्फ एक वर्ष	57.4	60.5	51.1	37.1	49.8
	10-13 वर्ष	2.1	1.5	2.8	5.6	3.2
शहरी पुरुष	सिर्फ एक वर्ष	18.7	17.2	15.0	8.1	12.5
	10-13 वर्ष	12.4	17.8	18.5	33.3	23.5
ग्रामीण पुरुष	सिर्फ एक वर्ष	39.3	34.2	29.6	16.1	24.9
	10-13 वर्ष	7.4	14.2	10.8	25.4	17.2

बदहाल स्वास्थ्य सेवाः शिशु और बच्चे का उच्च मृत्युदर और निम्न दीर्घ आयु

यह अच्छी तरह से ज्ञात है कि एससी और एसटी को काफी कम स्वास्थ्य की निम्न सेवाएं प्राप्त हैं। इसका दुष्प्रभाव उसके संपूर्ण-जीवन पर पड़ता है और उनका कार्य प्रभावित होता है, जिसका असर शिशु मृत्यु-दर के रूप में दिखता है। इससे संबंधित जो आंकड़े नेशनल फैमिली हेल्थ सर्वे (एनएफएचएस-2) 1998-99 में है उसमें जन्मजात शिशु मृत्युदर (आईएमआर) और पांच वर्ष से कम आयु के बच्चे के मृत्यु दर (यू5एमआर) को दर्शाया गया है।

आईएमआर और यू5एमआर

		सभी	हिंदू	मुस्लिम	ईसाई	सिख	एसटी	एसटी	ओबीसी	अन्य
एनएफएच सर्वे-I	आईएमआर	86	90	77	50	47	107	91	-	-
(1992-93)	यू5एमआर	119	124	106	68	65	149	135	-	-
एनएफएच सर्वे-II	आईएमआर	73	77	59	49	53	83	84	76	62
(1998-99)	यू5एमआर	101	107	83	68	65	119	127	103	83

एनएसएसओ और एनएफएचएस के अनुसार ओ.बी.सी. और उच्च वर्ग के आंकड़े मिले हुए हैं। इसके मुताबिक उच्च वर्ग अच्छी स्थिति में है, जबकि ओ.बी.सी. उससे थोड़ी कम बदहाली की स्थिति में है। इस अपूर्णता के बावजूद एससी और एसटी की निम्न स्थिति को दर्शाने वाले आंकड़े से स्पष्ट है। जबकि विभिन्न सामाजिक वर्ग के लिए आबादी के संदर्भ में एनएसएसओ के आयु-वर्ग के आंकड़े उच्च थे, लेकिन एससी और एसटी, यहां तक कि पिछड़े वर्ग से उच्च वर्ग की स्थिति अच्छी थी। वे उनसे 20-24 वर्ष अधिक आयु वर्ग के थे। वर्तमान में उच्च और निम्न आयु वर्ग को एनएसएसओ के 2004-05 सर्वेक्षण के मुताबिक सही तरीके से समझा जा सकता है।

विभिन्न सामाजिक वर्ग में आयु-वर्ग के अनुसार विश्लेषण(प्रति 100 व्यक्ति)

सामाजिक वर्ग	*आयु-वर्ग*	
	0-4	60 और उससे अधिक
एससी	115	64
एसटी	115	53
ओबीसी	108	70
अन्य (उच्च वर्ग)	90	84

इससे एससी और एसटी में पहले होने वाले शिशु मृत्यु दर का पता चलता है, तो दूसरे शब्दों में एससी और एसटी की दीर्घायुपन को दर्शाया गया है।

इस संदर्भ में जनगणना की चौंकाने वाली वास्तविकता का भी उल्लेख किया गया है। स्वतंत्र भारत के इतिहास में पहली बार अनुसूचित जाति की आबादी 1991 की जनगणना के अनुसार 16.48 फीसदी से घटकर 2001 की जनगणना में 16.2 फीसदी हो गयी है। यह दशक पिछले तीन दशकों की तुलना में एस-सी की निम्न आबादी वृद्धि को दर्शाता है। यह भी प्रतीत होता है कि एससी आर्थिक, कार्यक्षेत्र, रहन-सहन के स्तर पर बुरी स्थिति में है तथा उच्च शिशु मृत्युदर 5 वर्ष तक के बच्चों के मृत्युदर और दीर्घ आयु की समस्या ग्रसित है।

दलितों की फटेहाली और निम्नस्तर का रहन-सहन

एससी का रहन-सहन चाहे वह ग्रामीण इलाके की बस्तियां हों या फिर शहरी मुहल्ले, उनकी स्थिति काफी विकट समस्याओं से घिरी होती हैं। उनको पेयजल, बिजली सुविधा और शौचालय की सुविधाओं से भी महरूम रहना पड़ता है। निम्नलिखित तालिका में इन तीनों सुविधाओं की उपलब्धता की जानकारी दी गई है, जो 1991 की जनगणना पर आधारित है। इससे एससी और एसटी की दुर्दशा का अंदाजा लग जाता है।

रहन-सहन का प्रतिशत

बिजली, पेयजल और शौचालय की सुविधाएं			इनमें से कोई भी सुविधाएं उपलब्ध नहीं		
एससी	*एसटी*	*अन्य*	*एससी*	*एसटी*	*अन्य*
6.62	3.23	19.83	28.06	45.30	21.37

दलितों की यह दशा एससी की बस्तियों में जाकर महसूस किया जा सकता है।

(लेखक केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय में इस समय सलाहकार के पद पर कार्यरत हैं।)